

YEARLY ACADEMIC JOURNAL

KALINDI COLLEGE

ISSN: 2348-9014



(UNIVERSITY OF DELHI)
East Patel Nagar,
New Delhi – 110008

Editor : *Dr. Punita Verma*

Co-editor: *Dr. Chaity Das*

Editorial Board:

Dr. Neetu Agrawal (Garg)

Ms. Shipra Gupta

Ms. Anshula

Dr. Raksha Geeta (*For Hindi*)

Dr. Vishwajeet Vidyalkar (*For Sanskrit*)

Principal's Message



With immense pleasure we bring to you the sixteenth volume of the Academic Journal with an array of articles on multidisciplinary research areas. It has been a long journey with several colleagues over the years nurturing the journal. I take this opportunity in the year of the golden jubilee of the college to thank all of them for their contribution. As you will be aware the journal crossed a major milestone last year by opening itself up to peer review. This year we have lived up to our own expectations as will be demonstrated by the diversity of topics covered ranging from a study of women empowerment to Italian neo-realism and so on. The articles are a product of both primary and secondary research and we fervently hope that it shall be enjoyed and appreciated by the readers. I congratulate the Convenor Dr. Punita Verma, Co-Convenor Dr. Chaity Das, and members of the committee Dr. Neetu Agrawal, Ms Shipra Gupta, Ms Raksha, Ms Anshula, Dr. Vishwajit Vidyalkar and am sure that in the coming years the journal shall grow in leaps and bounds.

Dr. Anula Maurya
Principal

Editorial

The sixteenth volume of the Yearly Academic Journal is at hand and we are delighted to present it to your discerning eyes. The articles display a host of academic areas ranging from history, memory, culture, globalisation, peace and women's empowerment to the physics of optical fibres and Surface Plasmons. As in the past we have tried to ensure variety in place of an overarching theme. While there is little interconnectedness between the articles, they all stand alone in their respective claims to scholarship and knowledge production.

We begin with a very relevant article in Anita Verma's study of the marketing of eco- friendly products. She brings out the positive impact and response of young consumers towards environment friendly initiatives. Indu Chowdhury's article explores the different patterns of migration across states and demonstrates how social and economic infrastructure is linked to migration. Shipra Gupta explores the rousing cinematic oeuvre of Vittorio De Sica, especially his classics "The Bicycle Thief" and "Umberto D." The social realism of the filmmaker is foregrounded as she analyses the cinematic language of the realists.

Richa Mani presents a sharp study of the geopolitics of Russia and the countries of Transcaucasia. While the political leadership of these countries have made a choice between the West and Russia in their cultural, economic and political affiliations, she suggests that a common ground be found between the countries and Russia for the sake of development and international security. Stirred into this mix is the walk down memory lanes in Aditi Chowdhury's article about the Chishtiyya Jamatkhanas exploring the poetic and peaceable Sufi tradition of Islam as opposed to the popular stereotypes of a marauding religion that relied on the sword and forced conversion.

Ms. Mamta's article takes us to the mellifluous lanes of folk songs in Hindi cinema talking about a twin movement through the inclusion of the folk in film narratives. While they hybridise the lyrics of film, these songs also add a touch of authenticity by lending their rusticity. Ezra John brings in a nuanced reading of Gandhi and his dismissal of the cinematic medium by arguing that cinema was furthering the same causes and hence his mistrust was a trifle misplaced.

Pushpa Bindal, Triranjita Srivastava and other authors have carried out experimental investigations on all types of splice losses, namely; longitudinal offset, transverse offset, angular offset. They have also carried out simulations of propagation characteristics of rectangular core plasmonic waveguides using a well established and popular effective index method. The reflectance curves for a surface plasmon resonance sensor are obtained using the concept of frustrated total internal in light waves through thin layers of aluminium and graphene deposited under the base of silica prism.

Anula Maurya and Anuradha Maurya's co-authored article argues that the task of women's empowerment is incomplete without the inclusion of women in decision making and gender-sensitive policies. In a subsequent article on global peace Dr. Maurya refers to the cause of environmental integrity, economic efficiency and social equity as harbingers of global peace. Further in her article on globalisation she argues that the advantages of this process can only be universal if there are increased opportunities for women. Thus women's position in society becomes the touchstone of progress.

With this issue our journey towards academic excellence has picked up pace. At the same time, we have fostered a spirit of enquiry which is slowly attaining not only new heights but finding new levels and paradigms.

Punita Verma and Chaity Das

सम्पादकीय

शोध संस्कृति की ऊंची उड़ान

व्यापक अर्थ में शोध किसी भी क्षेत्र में ज्ञान की खोज करना या विधिवत गवेषणा करना होता है। शोध हमारी जिज्ञासाओं का समाधान करता है। इसमें हम पुराने सिद्धांतों, संकल्पनाओं का पुनः परीक्षण करते हैं ताकि नवीन वस्तुओं, सिद्धांतों और संकल्पनाओं को स्थापित कर सकें। वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में उच्च शिक्षा की सहज उपलब्धता और उच्च शिक्षा संस्थानों को शोध से अनिवार्य रूप से जोड़ने की नीति ने शोध की महत्ता को बढ़ावा दिया है। आज शैक्षिक शोध का क्षेत्र विस्तृत और सघन हुआ है। शोध हमारे बोध को विस्तृत करता है शिक्षा के क्षेत्र में कुछ जोड़ता है। यानी ज्ञान में कुछ नयापक्ष जोड़ता है शोधार्थी अपने ज्ञान के कुछ नये आयाम उद्घाटित करता है। शोध पुनः खोज नहीं है अपितु गहन खोज है।

हिंदी में शोध के स्तर व उसकी समस्याओं व समाधान को लेकर अक्सर उसकी गुणवत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाये जाते हैं विशेषकर विश्वविद्यालयी शोध की स्थिति अति चिंतनीय है। इस संदर्भ में कालिंदी महाविद्यालय अपवाद है। कालिंदी महाविद्यालय शोध परम्परा व संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए सदैव बहुआयामी प्रयास करता रहा है। अकादमिक जर्नल के सोहलवें संस्करण में भी शोध स्तर व प्रक्रिया के स्तर पर नियंत्रण रखने के लिए विषय-विशेषज्ञका पैनल तैयार किया गया, जिसमें शोध कार्य की मौलिकता, उसका समाजोपयोगी होना तथा प्रासंगिकता को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया।

सत्र 2015-16 महाविद्यालय के लिए शोध कार्यों के सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा। हमारी आदरणीय प्राचार्या महोदय की प्रेरणा व नेतृत्व में विविध विभागों में राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन किया गया, गंभीर शोधलेखन का वातावरण निर्मित हुआ। पूरे वर्ष महाविद्यालय में शोध का वातावरण बना रहा जिसने न केवल शिक्षकों को उनकी जिज्ञासा, चिन्तक व सृजनशीलता के प्रति जागृत व प्रेरित किया अपितु छात्रों में भी शोध के प्रति जिज्ञासा बनाया।

हिंदी विभाग द्वारा “सोशल मीडिया में साहित्य का बदलता स्वरूप” जैसे चुनौतीपूर्ण विषय पर आयोजित अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी में हिंदीतर विभागों से शोध पत्रों का आना सुखद रहा। हमारी प्राचार्या डॉ अनुला मौर्य जी का शोध पत्र “सोशल मीडिया और लघु पत्रिकाएँ” मौलिकता के इसी प्रतिमान की स्थापना कर रहा है। इसमें हिंदी की उन महत्त्वपूर्ण ई-पत्रिकाओं को रखांकित किया गया है जिनका हिंदी भाषा साहित्य और संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन लघु ई-पत्रिकाओं की जानकारी होना पाठकों के ज्ञान विस्तार के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, शोध पत्र सोशल मीडिया के सकारात्मक पहलू से भी अवगत करवाता है तथा हमें युगानुरूप डिजिटल साहित्य से जोड़ने का सार्थक प्रयास करता है।

वर्तमान डिजिटल युग में संगीत की अनिवार्यता और संगीत के माध्यम से जीवन से जुड़े रहने की नई दृष्टि हमें सुश्री बलजीत के शोधलेख से प्राप्त होती है। उन्होंने कई उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध किया कि संगीत हमारे जीवन में नवीन स्फूर्ति से भर देता है संगीत के महत्त्व को पुनः स्थापित करने का सफल प्रयास किया है।

डॉ ऋतू का शोधलेख हजारों वर्ष पुरानी भारतीय सामाजिक संरचना में आए विविध बदलावों को समकालीन नाटकों के संदर्भों में देखने का प्रयास करता है, यह शोधलेख भारतीय समाज की जटिलताओं के मध्य जातिगत वर्चस्व की संरचनाओं को अनावृत करने की उल्लेखनीय भूमिका निभाता है।

मध्यकालीन साहित्य में शोध की संभावनाएं आज भी बनी हुई हैं, तो यहाँ चुनौतिया भी कम नहीं हैं। डॉ विभा ठाकुर ने मीरा के व्यक्तित्व का आयाम हमारे सामने रखा है। भक्त कवित्री मीरा के “स्त्री मन” को उन्होंने बखूबी पढ़ा। विभा जी ने मीरा के संदर्भ में कई पूर्वाग्रहों व मिथकों को तोड़ा व नये तथ्य की स्थापना की।

“मृगया में आदिवासी विमर्श” कोई फिल्म समीक्षा नहीं अपितु फिल्म के माध्यम से आदिवासी विमर्शों को एक नया मार्ग, नई दृष्टि प्रदान करता है, एक नया अध्याय जोड़ता है। यह शोधालेख 1976 में आई मृगया जैसी रचनात्मक फिल्म को साहित्यिक आयामों से जोड़ने की बात करता है।

हम हमारी प्राचार्या महोदया व अपने सहयोगियों का आभार व्यक्त करते हैं और आशा करते हैं की शोध संस्कृति की यह मशाल इसी तरह प्रज्ज्वलित होती रहेगी और हमारी जिज्ञासाओं को शमन करने के लिए प्रेरित करती रहेगी।

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाहवयं ज्योतिः आ संसारं न दीप्यते॥ काव्यादर्श, १.२

संस्कृत काव्यशास्त्र के आद्याचार्यों में परिगणित दण्डी ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही भाषा की महत्ता को द्योतित किया है। उनका मत है कि यदि संसार में शब्दों की ज्योति नहीं होती तो निखिल जगत् अन्धकार में निमग्न हो जाता। ‘अर्थप्रवृत्ति तत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्’ अर्थात् शब्द ही भाषा के व्यवहार का साधन होते हैं। उसी प्रक्रम में संस्कृत विभाग के आचार्यों ने अपने विचारों को शब्दरूप में पिरोने का यथासम्भव प्रयास किया है।

महाविद्यालय की प्राचार्या डॉ. अनुला मौर्य ने अपने पाँच शोधपत्रों की शृङ्खला में संस्कृत वाङ्मय के सभी पक्षों को आधार बनाया है। अपने पत्र में महोदया ने क्रमशः जल-संरक्षण सम्बन्धी वैदिक अवधारणाओं को, बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में नैतिक मूल्य विवेचन, विश्वशान्ति संकल्पना, पर्यावरण प्रदूषण निवारण एवं नाट्यकला और लोकधर्म के सन्दर्भ में संस्कृत वाङ्मय रूपी सागर में विकीर्ण मोतियों को संचित करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। संस्कृत विभागाध्यक्षा डॉ. मञ्जुलता द्वारा भारतीय संस्कृति में निहित षोडश संस्कारों में आधारभूत विवाह-संस्कार के महत्त्व एवं उसकी वर्तमान प्रासङ्गिकता को उभारने का प्रयास है। डॉ. देशराज ने संस्कृत जगत् के कविकुलगुरु कालिदास के कृतियों में निहित राजा की अवधारणा को अभिव्यक्ति दी है। विश्वजीत विद्यालङ्कार ने अपने शोधपत्र में भारतीय संस्कृति की आधारभूत भाषा एवं साहित्य संस्कृत में निहित व्यवहारिक विज्ञान का दिग्दर्शन कराते हुए वर्तमान पाठ्यक्रम में संस्कृत वाङ्मय में निःस्युत वैज्ञानिक, आयुर्वेदिक, गणितीय ज्ञानबिन्दुओं से छात्रों को विज्ञ कराने की नितान्त आवश्यकता के प्रति चिन्ता प्रकट की है। साथ ही इसके प्रति सकारात्मक क्रियान्वयन के प्रति आभार व्यक्त किया है। अन्त में सभी लेखकों को धन्यवाद करते हुए यह कहना उचित होगा कि-

मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना, कुण्डे कुण्डे नव पयः।

जातौ जातौ नवाचारा, नवा वाणी मुखे मुखे॥

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के सोचने का ढङ्ग अलग-अलग होता है; प्रत्येक जलाशय के जल के स्वाद में भी अन्तर होता है। प्रत्येक समूह के रहन-सहन भिन्न-भिन्न होता है; प्रत्येक व्यक्ति के मुख से बात प्रकट करने का ढङ्ग भी अलग-अलग ही होता है। इति शम्।

रक्षागीता

हिन्दी विभाग

विश्वजीत विद्यालङ्कार

संस्कृत विभाग

Index

S.No.	Title	Authors	Page No.
1.	Consumers' purchase preference for green / eco -friendly products: insights from an exploratory study	Anita Verma, Aastha Verma	1
2.	Migration in India: A state-level analysis	Indu Choudhary	9
3.	Italian Neo Realism and Vittorio De Sica	Shipra Gupta	16
4.	History and Geopolitics: A Tussle between Transcaucasia and Russia	Richa Mani	22
5.	Walking through the historical memory lanes of the Chishtiyya Jamaatkhanas with special notes on the sources of Khwajas Qutb-ud-din Bakhtiyar Kaki and Nizamud-din Auliya	Adity Chowdhury	32
6.	Folk songs in Hindi Cinema	Mamta	39
7.	Gandhi and cinema: an association re-examined	Ezra John	49
8.	Experimental Investigations on Splice Losses in Optical Fibers	Pushpa Bindal, Triranjita Srivastava , Kanchan Garg and Shiwangi Puri	58
9.	A simple numerical method for study of rectangular core plasmonic waveguides	Triranjita Srivastava, Pushpa Bindal, Shatakshi Chamoli and Vaiwaswati Joshi	64
10.	Surface Plasmon Resonance Sensor based on Graphene	Triranjita Srivastava , Pushpa Bindal, Divita Gautam and Shikha Bajaj	70
11.	Gender discrimination and gaps in India: An incomplete struggle for women empowerment	Anula Maurya and Anuradha Maurya	75
12.	Globalization and its impact on the rural indian women: aspirations, opportunities and challenges	Anula Maurya	86
13.	International Peace: 'Moving towards the Inclusive and Participatory Approach'	Anula Maurya	91
14.	सोशल मीडिया और लघुपत्रिकाएँ	अनुला मौर्य	96
15.	जीवन और संगीत	बलजीत कौर	99
16.	समकालीन हिंदी नाटकों में जातिगत वर्चस्व और प्रतिरोध	ऋतु	105
17.	मीरां का अवदान (सामाजिक संदर्भ में)	विभा ठाकुर	115
18.	'मृगया' फिल्म में आदिवासी का विमर्श	रक्षा गीता	123

19	संस्कृत वाङ्मय में जल का महत्त्व एवं उसके संरक्षण के उपाय	अनुला मौर्य	129
20	बौद्ध दर्शन के आलोक में नैतिक मूल्य मीमांसा	अनुला मौर्य	133
21	प्राचीन साहित्य में प्रतिपादित विश्वशान्ति संकल्पना की वर्तमान समय में प्रासङ्गिकता	अनुला मौर्य	139
22	वैश्विक पर्यावरण प्रदूषण को शमन करने में सहायक वैदिक उपाय	अनुला मौर्य	142
23	संस्कृत नाट्यकला की लोकयात्रा एवं लोकधर्मिता	अनुला मौर्य	147
24	वर्तमान समय में विवाह संस्कार का बदलता स्वरूप	मञ्जुलता	151
25	महाकवि कालिदास का राजा एवं राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण	देशराज	153
26	भारतवर्ष, संस्कृत और विज्ञान	विश्वजीत विद्यालङ्कार	156

CONSUMERS' PURCHASE PREFERENCE FOR GREEN / ECO -FRIENDLY PRODUCTS: INSIGHTS FROM AN EXPLORATORY STUDY

Anita Verma, Aastha Verma

Department of Commerce, Kalindi College

vermas67@gmail.com, aastha178@gmail.com

Abstract: *The purpose of this paper is to understand the attitude of consumer towards the purchase predispositions for green or ecofriendly products. The paper attempts to explore how consumer behavior is affected by green marketing practices of the marketers and to find whether or not the understanding of the advantages of using green products has an effect on their product purchase decision. This exploratory research study is designed to gain an understanding of Indian consumers' attitudes towards green marketing or consumption of products which supports environmental protection. More specifically, the study aims to fulfill the following research objectives: To understand how Green marketing is perceived by consumers, To examine if Green/eco-friendly products influence consumers more positively towards their purchase in comparison to conventional products, To explore the factors which leads a consumer towards the purchase of Green products.*

Key words: *Green marketing, Green products, Consumer behaviour, Sustainability.*

INTRODUCTION

Lately, green marketing has gained tremendous attention worldwide because of environmental deterioration which leads to global problems. It is also observed that companies have started using green marketing for various reasons like social responsibility, green policies etc. (Kumar, 2010). At one hand when the business world is becoming more socially responsible, the consumers are also changing their attitudes as they shift from buying conventional products to ecofriendly/green products (Ghosh, 2010). Due to this transition and excessive competition it has become pivotal for marketers to formulate the marketing strategies in line with consumer attitude in order to be successful. There is scarcity of research in the extent literature which particularly focuses on the factors and other drivers which leads a consumer towards the buying of green products. This research is an attempt to fill that gap. Further, green marketing includes a wide range of activities, including product alteration, changes in the production process, packaging changes, as well as modifying the product promotional activities. Therefore it would also be interesting to note the outlook and response of consumers towards these marketing efforts. As green marketing refers to a holistic marketing process in which the product's marketing consumption as well as disposal of products and services happen in a way less harmful to the environment. With growing awareness about the consequences of global warming, non-biodegradable

solid waste, detrimental impact of pollutants on the environment has led both marketers and consumer to become increasingly sensitive for the need to switch to green products and services.

LITERATURE REVIEW

Charter and Polonsky (1999) posited that green marketing is the marketing and promotion of a product depending upon the environmental performance or an improvement afterwards. The time of the late 1980s witnessed the first phase of green marketing, when the concept of “green marketing” was newly introduced and discussed in industry (Peattie and Crane, 2005). An awaited appearance of a green tide stimulated many marketers to engage in different forms of green marketing at the starting of this first phase (Vandermerwe and Oliff, 1990). Many marketers generated positive consumer response which translated into an upsurge of goodwill, market shares or sales from their efforts of green marketing. However, notwithstanding reports that environmental glitches constituted one of the highest public concerns, market growth for green products lamentably fell short of marketers’ expectations (Wong et al., 1996). The dramatic growth in green marketing enthusiasms at the beginning of the 1990s has gradually subsided (Peattie and Crane, 2005). Green marketing entered its second phase in the 1990s, when marketers beginning to experience a backlash (Wong et al., 1996). Gradually, marketers believed that consumer concern for the environment and a connected desire for green products did not translate into purchasing behaviour (Schrump et al., 1995). Among all the major factors, the main aspect contributing to the reaction against green marketing was consumer scepticism about green products, green claims and the companies’ intention as well as practices (Mendleson and Polonsky, 1995).

Peattie and Crane (2005) have identified five marketing practices which led to the failure of green marketing during this period. They are:

- (1) Green spinning. Taking a responsive approach by using public relations to repudiate or dishonor the public’s criticisms against the company’s practices.
- (2) Green selling. Taking an opportunity seeking approach through addition of some green claims to existing products with the desire to boost sales.
- (3) Green harvesting. Becoming passionate about the environment only when greening could result in cost savings (e.g., in terms of energy and material input inefficiencies, package reductions, etc.).
- (4) Entrepreneur marketing. Generating pioneering green products to market without really being considerate what the consumers actually want.
- (5) Compliance marketing. Using humble compliance with applied or expected environmental legislation as an opportunity to promote the company’s green qualifications without taking initiatives to go beyond responding to regulations.

After this phase from the mid-1990s, consumers started to become more and more environmentally and socially aware (Strong, 1996). Serious consumers for environment protection began to emerge as a new force of green consumerism during that period. Gradually, the rise of green consumerism has led to an even broadened consumption concept called ethical consumerism (Uusitalo and Oksanen, 2004). According to Uusitalo and Oksanen (2004), ethical consumerism relates to buyer behaviour that reflects a concern with the problems that arise from unethical and unfair trades practices such as child labor, breach of human rights, animal testing, labor union suppressions, disparities in trading relations with the third world countries.

OBJECTIVE OF THE STUDY

The purpose of this paper is to understand the attitude of consumer towards the purchase predispositions for green or ecofriendly products. The paper attempts to explore how consumer behavior is affected by green marketing practices of the marketers and to find whether or not the understanding of the advantages of using green products has an effect on their product purchase decision. This exploratory research study is designed to gain an understanding of Indian consumers' attitudes towards green marketing or consumption of products which supports environmental protection. More specifically, the study aims to fulfil the following research objectives:

- To understand how Green marketing is perceived by consumers.
- To examine if Green/eco-friendly products influence consumers more positively towards their purchase in comparison to conventional products.
- To explore the factors which leads a consumer towards the purchase of Green products.

RESAERCH METHODOLOGY

In order to meet the above stated research objectives the present study through the use of qualitative research conducted structured in-depth interviews. The interviews were conducted using the seven-stage model given by Kvale (1996). Potential participants for the study were selected from an interview pool in the city of Delhi and thirty individuals between the age group of 18 - 60 years were interviewed during the period of April 2016 to June 2016 either at their home or at the place of their convenience. There were a total of ten questions in the interview guide and each interview lasted for 25-30 minutes focusing on consumers' knowledge and intention to purchase green/eco-friendly products. The initial three questions in the interview guide were opening or warm up questions followed by five focused /detailed discussion oriented and two conclusive questions.

STRUCTURED INDEPTH INTERVIEWS

The qualitative research was conducted using in-depth interview technique with 30 participants who were from varied backgrounds (see Table 1) and belonged to the urban population of the city ‘Delhi and NCR’. The present study adapted Kvale (1996), seven-stage model of conducting in-depth interview. The stages of the interview were Thematising, Designing, Interviewing, Transcribing, Analyzing, Verifying, and Reporting. The study used an open-ended, exploration-oriented method, which enabled a detailed discovery of the participants’ feelings and perspectives about green or eco - friendly products. Start of the interview began with the introduction and explaining the objective of the study to respondents. Prompts and probes were used in each question for extracting the exact information. All thirty sessions were audio recorded and complimented with written notes after obtaining respondents’ permission.

Table 1: Respondent’s Profile

S.No	Age	Gender	Occupation
1.	20	F	Student
2.	41	M	Financial Advisor
3.	33	F	BPO worker
4.	52	F	Banker
5.	60	F	Retired
6.	49	M	Govt. Service
7.	32	F	Home Maker
8.	18	M	Student
9.	22	M	Student
10.	54	F	Home Maker
11.	45	M	Banker
12.	29	F	Teacher
14.	50	M	Business
15.	61	M	Retired
16.	22	F	Manager (Hotel)
17.	35	F	Hotelier
18.	34	M	Business
19.	41	M	Business

20.	24	F	Welfare officer
21.	39	F	Business
22.	36	M	Banker
23.	27	M	Consultant
24.	25	F	Student
25.	28	F	Home Maker
26.	50	M	Service
27.	31	F	Teacher
28.	32	M	Doctor
29.	26	F	Teacher
30.	21	M	Student

Source: Primary Survey

Frequency of shopping green/eco-friendly products and preference in product category

As indicated in Table 2, when respondents were asked about their shopping frequency of green products nine of the thirty participants reported as going for shopping once or more than once a week and specifically look out to buy green products in FMCG category. While seventeen participants stated to go shopping once every two weeks and they buy green products in food and cosmetics and clothing. Four of them revealed that they shop once a month and does not really buy green products at all.

Table 2: Shopping Frequency of respondents for ecofriendly products

Shopping	Frequency
Once a Week	9
Once in fortnight	17
Once a Month	4 (said no for green products)
Source: Primary Survey	

Interview participants were also enquired about where they like to go for shopping of green products. A glaring majority of sixteen participants reported their preference to shop for such products at the malls, supermarkets and retail stores and fourteen of the interviewees informed that they prefer to go to

traditional/local shopping places and conventional markets. It was also interestingly found that from the above sixteen who prefer eco-friendly products of 35 years or below.

Preference for green products across product categories (Durable Vs. Non-Durable)

Using the probing technique which guided the participants to respond with examples, the interviewees were asked to discuss their preferred product category for green products. It was found that consumers equally prefer green products in both consumer durable and consumer non - durable category. In consumer durable category like phone, TV, cars, electronic gadgets consumers believe that making of such products with least harm to nature would always be preferred. While in consumer non – durables there is a growing demand of the consumption of organic food products, cosmetics and clothing.

The responses received were as follows:

“I am aware of the environmental problems caused due to the usage of products made up of harmful components. So I always try to buy environmentally safe products. If an electronic gadgets company introduces safe products than my preference will always be for those.

“When I go to shop food products, organic foods always entice me as it is produced through agriculture which does not use artificial chemical fertilizers and pesticides, and animals reared in more natural conditions, without the routine use of drugs and antibiotics.

Disparity in Buying Decision: Green product Vs. Conventional product

Most of the participants approved that the onslaught of non - biodegradable products cast a much harmful impact on our environment and if we continue to practice and support the same than we are actually without realizing digging graves for our children and generations to come. It was observed through the interview responses that there

consumers are rapidly becoming aware and switching their buying habits from conventional products to green products. The consumer responses were as follows:

“I always try to select organic/ green products because that is the only way we can contribute to save our environment. Moreover it is also a healthy option to consume organic food as it is pure and helps in making our body constitution sound.

“Surely a green product is perfect option to live a healthy life. I recently bought myself a pair of Levis jeans which is green and safe for environment. Likewise now I prefer green consumption habits.

However, a few respondents were of divergent view and pointed out that preference of a product does not completely depend upon its green origin as these products are generally many times higher than non

- green products.

Cost Considerations

Most of the respondents pointed out that it is true that green products are higher in prices and that probably is the only stumbling block deters a consumer from buying them. If there is a small difference in the price than that would not matter. However a very few respondents also said that they are not ready to compromise with their preferences for green products even if a low cost non - green product is offered to than at throw away prices. They said:

“I am not worried about the price element.” And “I know that if today I am buying a non-biodegradable product than my children will pay for it tomorrow.

Visual Appeal and Packaging of green products

Majority of the participants remarked that having visual appeal on a product which is pro-environmental impacts positively on consumers. They mentioned that an impressive logo or visual appeal invokes an assurance of product's excellent functional and hedonic utilities and thus influence their buying decision. The respondents also find visual elements to be playing a pivotal role in their purchase decisions.

CONCLUSION

The result of the present study indicates that the knowledge and understanding of the consumer on green marketing has a positive impact on their purchase preference for eco-friendly and environmentally safe products. There exists an optimistic influence on consumer attitudes for buying those products which are non-hazardous to our environment. Interestingly, this is especially true in case of younger respondents. There exists a huge scope and possibilities that can be leveraged by marketers through the understanding of consumers' outlook towards green products for example, marketers firstly should begin with education of the consumer through effective advertising and other promotional tools as it is observed that more the consumer is aware of the positive impact of consuming green more he/she is likely to buy the same. This also becomes an important source of information for strategy formulation. As per the findings of the study it is observed that younger consumers are more active supporters and buyers of eco - friendly products therefore special products and promotional campaigns can be designed with a special focus on younger generation. Majority of the consumers during the interview sessions also confirmed their decision to buy green products for a number of reasons including the influence of peer group. The

same is also present in a research by Hofstede (2001) in which the author has opined India as a society with clear collectivistic traits. This indicates that there is a fondness for belonging to a larger social framework. Individuals are expected to act in accordance to one's defined in-group(s). The actions of the individual are influenced by opinion of one's family, neighbors, work group and friends who are the part of their social networks. Owing a green product has become a penchant which involves and spread across all the members of a society. Marketers should also try to keep the pricing of green products at par with non-green product and to do the same they can opt for product line pricing as the demand of green products is already rising and lowering of prices will only provide an impetus to that. The study is also not devoid of the limitations. A major limitation of this study is that only qualitative method of research is used. Future study should include the use of quantitative analysis to obtain more robust findings. Also in order to generalize the result including diverse population and not limiting to a particular region would be helpful.

REFERENCES

- [1] Charter, M. and Polonsky, M.J. (1999). *Green Marketing: A Global Perspective on Green Marketing Practices*, Greenleaf Publications, Sheffield.
- [2] Ghosh, M. (2010). Green Marketing – A changing concept in changing time. *BVIMR Management Edge*, 4 (1), 82-92.
- [3] Kumar, P. D. (December 2010). Green Marketing: A start to environmental safety. *Advances in Management*, 4 (12). 59-61.
- [4] Kvale, S. (1996). *Interviews: An introduction to qualitative research interviewing*.
a. Thousand Oaks, CA: Sage.
- [5] Mendleson, N. and Polonsky, M.J. (1995). Using strategic alliances to develop credible green marketing. *Journal of Consumer Marketing*, 12 (2), pp. 4-18.
- [6] Peattie, K. and Crane, A. (2005). Green marketing: legend, myth, farce or prophesy, *Qualitative Market Research*, 8 (4), 357-70.
- [7] Uusitalo, O. and Oksanen, R. (2004). Ethical consumerism: a view from Finland. *International Journal of Consumer studies*, 28 (3), 214-21.
- [8] Vandermerwe, S. and Oliff, M.D. (1990). Customers drive corporations green, *Long Range Planning*, 23 (6), 10-16.
- [9] Wong, V., Turner, W. and Stoneman, P. (1996). Marketing strategies and market prospects for environmentally-friendly consumer products. *British Journal of Management*, 7 (3), 263-81.

Migration in India: A state-level analysis

Indu Choudhary

Department of Economics, Kalindi College

induchy@rediffmail.com

Abstract: *Migration is an integral part of the process of urbanization and economic growth. In order to understand this driver of economic growth, this paper attempts a study of migration at a dis-aggregated level. Specifically, the study analyses the differences in the pattern and nature of migration across states in India and their relationship with level of social and economic development of these states. We find that: (a) there are regional differences in the nature of migration flows; (b) the reasons for migration are not similar across regions; and (c) the pattern of migration flows is essentially linked to the social and economic infrastructure of the states.*

Keywords: *migration, remittances, economic development, NSSO, HDI.*

INTRODUCTION

Migration is an important link in the process of urbanization and economic development. This fact was well recognized by the earlier dual-economy growth models of Lewis (1954), Ranis and Fei (1961). While the growth models of the 1950s and 60s purported a beneficial role of migration in economic development, the Todarian models of 1970s and 80s linked migration to increased rates of urban unemployment. Theoretical models in recent times seem to have outgrown from the critiques of the famous Harris-Todaro model and look at newer aspects of migration like migration selectivity, job-search and the role of migration in development of the place of origin and destination (Lall, Shelod and Shalizi, 2006).

When looking at the question of migration in India, it is important to consider the variation in internal migration across states. This is important for various reasons. A state-level comparison will enable us to pin down the differential causes of migration. The evidence of variation in migration patterns across states can help guide policy for ensuring more balanced socio-economic development in future.

RESEARCH OBJECTIVES

The objectives of this study are:

1. To underline the variation and trends in migration across states in India.
2. To understand the behaviour of migrants and the nature of migration in these states.
3. To relate the pattern observed in migration to health, education, infrastructure and human development of the states.

RESEARCH METHODOLOGY

This study undertakes a descriptive analysis of the migration data on Indian states collected by the National Sample Survey Office (NSSO) during its 64th Round Survey on Employment & Unemployment and Migration Particulars conducted over the period July 2007- June 2008. The NSSO definition of migrant is based on the last usual place of residence. A migrant is defined as an individual whose place of residence at the time of enumeration is different from his usual place of residence. The survey covered a sample of around 1.25 lacs households and over 5 lacs persons. Out of these, close to 80,000 comprised rural households and the remaining were urban households.

The research methodology involves a synthesis of the NSS data with the Planning Commission and UNDP data on health, education and infrastructure rankings for various states. We corroborate these findings with those of Census 2011 released data on migration besides listing some novel approaches to measure migration among working age groups (Economic Survey 2016-17).

MAIN FINDINGS

The NSS 64th round survey reveals that there is much mobility of persons in Northern India with the UT of Chandigarh having the highest migration rate of 549 over 1000 persons, followed by Delhi, Himachal Pradesh, Uttarakhand, Punjab and Haryana. The rate of migration is also high for states of Maharashtra and Kerala. It is interesting to see that the north-Eastern states of India exhibit low rates of migration with the lowest being that of Manipur (9 per 1000 persons). Moreover, while migration rates are driven largely by female population in almost all Indian states, UTs of Chandigarh and Lakshadweep are exceptions.

In contrast to the popular belief that migration primarily occurs from rural to urban areas, we find that at the all India level, bulk of the migration is taking place between rural areas (700 per 1000 internal migrants), followed by rural to urban area migration (148 per 1000) which is much lower. The urban to rural area migration is even lesser (about 49 per 1000).

Most rural-rural migration takes place in states of Himachal Pradesh (864), Assam (836), Bihar (835), Orissa (830), Jammu and Kashmir (800), Chhattisgarh (798) and Jharkhand (790). On the other hand, rural to urban migration is most witnessed by UTs of Delhi (539), Chandigarh (454) and Puducherry (398) and the states of Manipur (376), Goa (363) and Mizoram (336).

As highlighted above, the rates of migration for most Indian states are driven by females whose primary reason for migrating is post-marriage movement. This is particularly true for states of Bihar (863), J&K (841), UP (829), Jharkhand (818) and Madhya Pradesh (808) where marriage is stated as the primary reason for migration. These findings are validated by the released data of 2011 Census which shows that

marriage accounts for 39.1% share followed by family related (35.6%) and work-related (13.3%) movement among reasons cited by persons who migrate (GoI Report 2017).

On the contrary, marriage is the least important stated reason for the North-Eastern states where people migrate either for employment purposes (Arunachal Pradesh (533) and Nagaland (338)), studies (Manipur (242)) or due to the movement of parents (Mizoram (450) and Manipur (412)).

Interestingly, about 190 per 1000 persons in Tripura and 60 per 1000 persons in Assam report forced migration. This should not be surprising given the problem of insurgency and continuous struggle for power and economic spaces in these states. At times, natural calamities too play an important role in migration.

For UTs of Chandigarh and Delhi, employment is stated as an important reason for migration along with parental movement.

The nature of migration is usually permanent for most persons from West Bengal (942 per 1000 migrants), Madhya Pradesh (942), Haryana (941), Bihar (941), Rajasthan (931), Uttar Pradesh (931), Gujarat (924), J&K (921), Punjab (909) and Tamil Nadu (900). But for the North-Eastern states except Assam (918), the movement of persons is typically temporary, in most cases the duration of stay being over a year. It is not astonishing then to see that the number of return migrants per 1000 is significantly large for the North-Eastern states of India with Manipur (486) in the lead, followed by Arunachal Pradesh (379) and Nagaland (362).

The data on short term migrants with migration duration between 30 days to less than 6 months captures not only seasonal character of employment but also cases of job search. The number of short term migrants is highest for Nagaland (34), followed by Bihar (28), Gujarat (23), Jharkhand (22), Madhya Pradesh (21) and West Bengal (20).

The NSSO also collected data on out-migrants in a household and the reasons for migration for out-migrants. An out-migrant is a living member of the household who left the household at any time in the past for stay outside the village or town. Information was also sought on the frequency of remittances, their amount and use.

The number of out-migrants per 1000 persons is maximum for Kerala (260) and Himachal Pradesh (258), with Haryana (169), Rajasthan (161) and Uttarakhand (161) being little behind. The number is much less for Delhi (23) and the North-Eastern states. While the low count for the national capital is on account of it being one of the most developed cities, the latter's trail could be historical and cultural.

The UT of Chandigarh runs ahead of all in terms of its out-migrant population residing in not just other states of the country (626 per 1000) but also in other countries (325). Goa (303) and Kerala (204) are

other important states with their out-migrants residing in other parts of the world. The states of Bihar (618), Jharkhand (548) and Uttarakhand (455) reportedly have out-migrants living in other states of the country. On the other hand, same state out-migration is most significant for Gujarat (904), Maharashtra (904) and the North-Eastern states of Nagaland (864) and Mizoram (841). In fact, the number of daily commuters is also substantially high for Maharashtra and Gujarat (Chandrasekhar and Sharma, 2011).

Same state same district out-migration is prominent for J&K (622), Arunachal Pradesh (536), Madhya Pradesh (527), Gujarat (526) and Himachal Pradesh (524).

Marriage is the most reported reason of migration for out-migrants from Delhi (905), Haryana (796), West Bengal (682) and Madhya Pradesh (667).

The out-migrants from North-Eastern states of Manipur (629), Arunachal Pradesh (607), Mizoram (592) and Jharkhand (576) and Bihar (565) cite employment related reasons for migration. Movement for study related purposes is significantly high in case of North-Eastern states of Meghalaya (398), Sikkim (298), Arunachal Pradesh (219) and Manipur (206).

While the number of these out-migrants sending remittances back to their families is highest in case of Bihar (524 per 1000 out-migrants) and Jharkhand (486), the frequency of sending is much low for these states (2 and 3 respectively). The frequency of remittance is higher for North-Eastern states and Goa and Puducherry. It seems that differences in literacy levels may have a role to play here. In addition, the out-migrants have to worry about finding a safe way of sending the remittances back home.

The amount of remittance per out-migrant is highest for Chandigarh (INR 213500), followed by Goa (INR 148800) and Delhi (INR 72600). This again is reflective of the higher level of education for these states as also the fact that many of their out-migrants reside outside India. The actual reasons and the relative significance of these require further investigation.

The remittances are largely utilized for consumption purposes, the most important being food items, followed by children education and health care. Besides, bulk of the households in UP, Bihar, Jharkhand, Madhya Pradesh, Odisha, Uttarakhand, Punjab, Kerala, Tamil Nadu and J&K use remittances for improving housing conditions (like repairs and purchase of land and buildings) and for debt-repayment. On the other hand, most remittance-receiving households in Goa, Gujarat, Haryana and Chandigarh report using these for savings and investments.

Lastly we look at the net migration rate across states. Net migration rate is the difference between in-migration and out-migration. We find that Chandigarh, Delhi, Goa, Maharashtra, Gujarat, Haryana, Punjab, Uttarakhand, Chhattisgarh and West Bengal are net recipients of migrants. The list of top senders

of migrants includes Bihar, Jharkhand, Odisha, Uttar Pradesh, Rajasthan, Himachal Pradesh and the North-Eastern states.

Theoretically, there typically exist certain push and pull factors that govern these rates and flows of migration. The push factors include impoverishment, socio-economic inequality, political instability, natural calamities, lack of basic infrastructural facilities etc. at the home place. On the other hand, the destination or the host place may pull people towards itself by providing a promise of better life, greater work opportunities, improved social structure and superior infrastructure.

A glance at the state-level facilities of health, education and infrastructure lends justification to the net migrant status of the above states explaining why certain states acquire the status of a destination state. This is further corroborated by an analysis of the UNDP's Human Development Index for Indian states. Combining data on Indian states from Bhandari (2012) and Suryanarayana et al (2011), we find that the best performing states in terms of health, education, income and infrastructure (banking, electricity, transport, communication) are Kerala, Goa, Punjab, Himachal Pradesh, Maharashtra, Haryana, Tamil Nadu, West Bengal and Gujarat which also happen to be the destination states attracting migrants. The worst-performing states on these parameters include Bihar, Jharkhand, Odisha, Uttar Pradesh, Rajasthan, Assam and Madhya Pradesh. The reasons that necessitate migration from these states are thus evident.

Economic Survey 2016-17 reports similar findings using two novel ways of estimating the number of migrants. The first approach is the Cohort-based Migration Metric (CMM) which compares similar cohorts across 2001 and 2011 census periods. The second approach looks at data on railway passenger traffic in the unreserved category for the period 2011-16. The average annual net flow of passengers is found to be over 9 million which is much higher than 2011 census figure of 3.5 million. The latter is the number of migrants who moved within the last one year stating economic reasons for migration. The state-wise trends and patterns conform to those found in our study using NSS 64th Round Survey data.

Further, using the gravity model, Economic Survey 2016-17 finds that distance and common borders are significant determinants of passenger flows (or migration) while there is little or no evidence of language acting as a barrier to the movement of people across India.

CONCLUSION

According to the Census of India 2001, internal migration in India constitutes a large population of over 309 million, which is roughly 30% of the total population. This figure has grown in absolute terms to about 454 million as per 2011 Census. Comparing it to the 1991 Census where 220 million persons were classified as migrants, we find almost a doubling up of the number of migrants in the last 20 years. The

opening up of the Indian economy with growing opportunities is possibly the largest contributing factor for this phenomenal growth in numbers compared to the pre-liberalization period which witnessed more or less stagnancy in numbers relating to migration.

As revealed in the analysis above, there is quite a lot of variation across states in terms of the nature and pattern of migration. One thing that comes out clearly from this study is that we have to look at migration from a local perspective rather than a global one. The discrimination against migrants from UP, Bihar and North-East in metropolitan cities of Mumbai and Delhi is well documented. As there cannot be one medicine for all ills, problems related to migration also need to be addressed locally. Most importantly, as a first step, proper collection and maintenance of data on migrants is required. This can best be done at the grass-root levels by involving panchayats and NGOs (Srivastava and Sasikumar, 2003).

We must understand that migration is a response to differential socio-economic development of regions in India. This brings the need for policies that could ensure balanced regional development.

REFERENCES

- [1] Bhandari, P. (2012). Refining State Level Comparisons in India. Planning Commission Working Paper Series.
- [2] Chandrasekhar, S., & Sharma A. (2012). On the Internal Mobility of Indians: Knowledge Gaps and Emerging Concerns. *IGIDR Working Paper No. 2012-023*.
- [3] Economic Survey 2016-17. Ministry of Finance. Government of India. Available at: indiabudget.nic.in/e_survey.asp
- [4] For a Better Inclusion of Internal Migrants in India. (2012). Policy Briefs. UNICEF.
- [5] Lall, S., Selod, H., & Shalizi, Z. (2006). Rural-Urban Migration in Developing Countries: A Survey of Theoretical Predictions and Empirical Findings. *World Bank Policy Research Working Paper No. 3915*.
- [6] National Sample Survey Report No. 533, (64/10.2/2) July 2007-June 2008. Migration in India. NSS 64th Round. GOI Ministry of Statistics and Program Implementation.
- [7] National Workshop on Internal Migration and Human Development in India (2011). Workshop Papers. Vol.2. UNICEF.
- [8] Report of the Working Group on Migration. January 2017. Ministry of Housing and Urban Poverty Alleviation. Available at: <http://www.mhupa.gov.in/writereaddata/1566.pdf>
- [9] Rural-Urban Migration: A Thematic Report (2009). Government of Nagaland.

- [10] Srivastava, R., & Sasikumar, S.K. (2003). An overview of migration in India, its impact and key issues. Regional Conference on Migration, Development and Pro-Poor Policy Choices in Asia.
- [11] Suryanarayana, M.H., Agrawal, A., & Prabhu, K.S. (2011). Inequality-adjusted Human Development Index for India's states. UNDP India.
- [12] Todaro, M.P. (2000). *Economic Development*. Addison Wesley Publishing Company. Boston, U.S.A.
- [13] http://censusindia.gov.in/Tables_Published/D-Series/Tables_on_Migration_Census_of_India_2001.aspx

Italian Neo Realism and Vittorio De Sica

Shipra Gupta

Department of English, Kalindi College

Shipjin83@yahoo.co.in

Abstract: *The changing face of cinema after the crippling effects of World War II can clearly be seen in the economic, social and psychological paralysis of National Cinemas of Western Europe. The war and the Nazi barbarism had taught filmmakers to realize the value of the real which can be seen in the unparalleled contribution of Vittorio De Sica to Italian Cinema. This paper attempts to analyse De Sica's movies that were distinctly notable for their studied social observations and realistic scripts and that espoused a socialist humanism that the Italians found appealing given their experience of living in a hostile and dehumanized environment.*

Keywords: *Vittorio De Sica, Italian Neo- Realism, World War II, Italian Cinema, Umberto D, The Bicycle Thief, Nazi Occupied Rome.*

INTRODUCTION

Vittorio De Sica (7 July 1902-13 Nov 1974) born in Italy was, along with Roberto Rossellini and Lucino Visconti, one of the greatest figures of the Italian Neorealist movement who created new dimensions for Post War Italian Cinema and took it to great heights. Brought up in Naples and born into a poor family, he started out as an office clerk to raise money to support his family. Since his childhood he was drawn towards acting and made his screen debut while still in his teens, later on beginning his career as a theater actor by joining Tatiana Pavlova's Theatre Company in 1923. He was a successful matinee idol during the "white telephone" era of the thirties and began his career in 1940 with a number of conventional middle class comedies that revealed the depth and sensitivity with which he dealt with and anticipated the Neorealist concern with social problems. His fifth film *Bambini Cigearnano*, 'The Children are Watching us' (1942), a mature, deeply human and perceptive work, began his collaboration with the scriptwriter and theoretical founder of Neorealism- Cesare Zavattini. His later films with him, *Shoeshine* (1946), a bleak tale of the corruption of innocence in Nazi- occupied Rome, *The Bicycle Thief* (1948) and *Umberto D* (1952), are heartbreaking studies of poverty and urban problems in post-war Italy. *The Bicycle Thief* won him the Oscar even before the creation of the Foreign Film Category. All of De Sica's movies are poignant stories yet powerful social documents conveying the gloomy mood of the society afflicted by the after-effects of war portraying the figure of the alienated man trying to hold his own in a hostile and dehumanized environment. Andre Bazin says in "What is Cinema?",

“*Umberto D* reveals the secret misery, egoism, the lack of fellow feeling which characterizes its members. Its protagonist advances step-by-step further into his solitude: the person closest to him, the only one to show him any tenderness, is his landlady’s little maid; but her kindness and her goodwill cannot prevail over her worries as an unwed mother-to-be.” (Bazin, 81).

With the destruction of the prewar economy of Europe by the Nazis, National cinemas of Western Europe were reduced to a state of economic, physical and psychological paralysis after World War II. The moral collapse that Europe found itself in was extremely devastating to its cinema. According to David Cook “Postwar film realism emerged from the smoke and ruins of European cities; the immediate trigger for the mimetic revival was the clarity of World War II.” (73) “Since Italy had lost its national identity, the only way to reconstruct it is through the cinema, a mimetic revelatory and realist cinema.” (72) The war and the Nazi barbarism had taught film makers to realize the value of the real. Cesare Zavattini believed in wiping out the difference between art and life. “The point”, as David Cook recounts, “Was not to invent stories which resembled reality, but rather turn reality into a story.” (73) Despite all the political, social and psychological upheaval, Andre Bazin says that “Unlike the French, or rather European cinema as a whole, Italian films have not been limited to the themes of resistance.” In Italy, liberation did not signify a return to the old and recent freedom, it meant political revolution, allied occupation, economic and social upheaval.” (Post War Cinema and Modernity, 15) Italian cinema was noted, appreciated for its concern with the day to day events and for the emphasis it laid on the portrayal of actuality. Films, as we all know, could easily reflect the national psyche as they are collective works that address and mobilize a mass audience through the “implicit, the unconscious, the hidden and the unsaid desires” (Cook,78). This is precisely why Benito Mussolini, even before the rise of Neorealism, was much impressed by the impact that films could have on people. He even paraphrased Lenin in calling cinema “the strongest weapon” of the age and sought, as David Cook says, “to reorganize the Italian industry along Soviet Lines that blended films and politics together.” (138)

Cesare Zavattini says “The true function of the cinema is not to tell fables...the cinema must tell a reality as if it were a story, there must be no gap between life and what is on the screen.” (Tomasulo, 3) This is precisely what the Italian Neo- realist cinema did and its following characteristic features, as can be clearly seen in the two movies that this analysis will be dealing with *The Bicycle Thief* and *Umberto*, will show how successful it was. When Zavattini defines neo-realism as an art of encounter-fragmentary, ephemeral, piecemeal, missed encounters, De Sica represents it in the same way in *Umberto D*. He constructs the famous sequence quoted as an example by Bazin: the young maid going into the kitchen in the morning, making a series of mechanical, weary gestures, cleaning a bit, driving

the ants away from a water fountain, picking up the coffee grinder, stretching out her foot to close the door with her toe. And her eyes meet her pregnant woman's belly, and it is as though all the misery in the world were going to be born. The new kind of Italian film was free of any contrived plots and employed only non professional actors. Professional actors compounded falsehood since "to want one person to play another implies the calculated plot." (Cook, 441) None of the actors of *The Bicycle Thief* had the slightest experience in theater or film. "The workman came from the Breda factory, the child was found hanging around in the street, and the wife was a journalist." (Bazin, 50) A direct contact was established with the contemporary social reality by the means of on location shooting that is taken to the streets for the material. Both the De Sica movies do precisely that. They stress the role of the individual. The poor Italian, lives as miserably as the poor of other countries but his protest takes more individualistic forms. In the world still spinning from the blows of war, there are very few formulae that make it practical for day to day living, or for making films that a confused humanity will recognize as true. Hence for both of his movies De Sica uses a very simple story line with no contrived plots as Zavattini considered plot as inauthentic, because it imposed an artificial structure on "everyday life". Through the projection of Umberto Domino Ferrari and Antonio Ricci, De Sica captures the dignity and sacredness of everyday life of ordinary people. In this way this neo-realism was conceptually very much attuned to the middle class comedy of manners as practiced by Alessandro Blasetti in *Four Steps in the Clouds*, 1942 and De Sica in *The Children are Watching Us*, 1942. They were distinctly notable for their studied social observation and their realistic scripts.

French Poetic Realism that gained preeminence by 1939 was another influence on the Neo Realist movement. These films, apart from being technically brilliant, espoused a socialist humanism which the Italians found appealing. It provided the aesthetic and intellectual freedom to young Italian artists who were straight-jacketed and trapped in the hot house atmosphere of the fascist studios. Luchino Visconti's obsession anticipated and was in a way a blue print for neo-realism. It aspired towards a realistic treatment of social content and had a popular setting.

Keeping all these characteristics in mind, the movies that have received accolades over the last few decades and have been considered the most important films of the post war era, can easily be analysed. *The Bicycle Thief* (1948) is a story about a family man who has been out of work for quite some time and who finds a job as a municipal bill poster for which he ought to have his own transportation, a bicycle which gets stolen on his first day of work. "The choice of a bicycle as the key object in the drama is characteristic both of the Italian urban life and of a period when mechanical means of transportation were still rare and expensive." (Bazin, 50) The rest of the story deals with his search for

his stolen bicycle without which he cannot make a living. To him it is a personal wrong he has suffered but to the viewer it gradually becomes apparent that he is a victim of a social system that will eventually force him to steal a bike. Ironically the owner himself gets branded as a thief. The protagonist is left to fend for himself in a hostile and dehumanized environment. The fact that neither the policeman nor the community party working on a play at night can help him forces him to acknowledge how lonely he is. The policeman does not pay heed to his complain and says that, “it’s just another Bicycle.” (0:23:0) to which Ricci replies, “Is it upto me then?” (0:23:03) The blend of pathos and comedy in the film seems Chaplinesque and De Sica treats the subject matter very honestly, he interprets scenarios faithfully and cleverly adapts any scenario to a scene. Bruno- the son’s pissing against a wall could serve comic relief purposes as well as show the primacy of the economic necessity over biological necessity. (0:45:02) His style is primarily a way of feeling that embroils the viewer and appeals to his emotions. In the very beginning, the movies provide one with certain socially determined representations of post war Italy. (Unemployment, alienation, housing conditions, the church, etc.) The film has been seen as progressive, reformist and an outcry of protest. It is a powerful social document with a rambling narrative form and a poignant representation of the relationship between a father and his son whereas *Umberto D* highlights the relationship between the protagonist and his dog. The helplessness of the protagonist can be seen in his restlessness when he tells his wife that he has been offered a job but he cannot take it. “And a good city job too.”(0:4:25) The bicycle works as a symbol signifying job, home, faith, pride, hope, self-respect, Italy, physical and social mobility, etc and the theft signifies displacement of the class robbery of capitalism onto a proletariat petty crime. Both the protagonists of these movies fight it out and try to eke out an existence in the post war topsy-turvy world.

Umberto D is a story about an old age pensioner who tries to eke out a meager existence for himself and his dog in a room that he has rented. For the protagonists of both the movies it becomes a fight to retain their personal dignity and they do have that tragic flaw which makes one stoop to begging and the other to steal. “In the world where this workman lives, the poor must steal from each other in order to survive.” (Bazin, 51) Both of them at some point or the other feel completely disheartened, *Umberto D* tries to commit suicide twice and clearly tells his housemaid “I am tired of everything” (1:6:58) The frustration at the order of things vents itself in *The Bicycle Thief* in Ricci’s slapping his son and in *Umberto D* in his attempt to throw himself and his dog Flaik on the railway track. He tries to leave his dog, desert him and on being asked by the maid “when are you coming back?” (1:15:38) says that he does not know and that he will see. Antonio Ricci too tries to commit the petty crime by sending away his son, when in a moment of desperation he decides to steal a bicycle, because he cannot bear to

be humiliated before his son who looks up to him. He realizes the futility of the search and tries to live life to the full saying “Why should I kill myself worrying when I’ll end up just as dead.” (0:58:40)

Both the movies are full of poverty and pessimistic images of a ruptured, broken apart existence. Umberto D lives in a boarding which later gets renovated and when he returns to his house he is greeted by a big hole in his room. The wall has been broken down in the landlady’s desire to marry and turn Umberto’s room into a hall. Behind the façade of being a refined lady with a good taste in music, she runs no more than a brothel renting rooms by the hour. In *The Bicycle Thief* as well, this ruptured existence is manifested in the flea market scene where the protagonist goes with his friends and son to look for his bicycle which quite possibly might have been dismantled and sold in pieces. This could quite clearly be a way of saying that the protagonist’s life has broken apart and he is trying his best to piece it together. Another recurring image in the movie *Umberto D* is that of the pervasive presence of the ants that the maid constantly tries to whisk away. The ants symbolize the gnawing sense of life that the protagonists experience in their respective crippling and claustrophobic lives.

The protagonist Antonio Ricci is introduced with a pan or dolly shot which initially constricts or flattens space only to open up or stretch the horizon line into a deep background through camera mobility. Initially he is sitting alone in a street as he moves towards the employment office, the camera pans with him, integrating him into a social group of other unemployed men. There are a lot of revolves and tracking shots that track the life of a protagonist. The reverse happens in *Umberto D* where the movie opens with the ding dong of bells and an arrival shot zooms in to reveal a procession of old people marching off to demand a raise in their pensions. Out of a crowd of old people Umberto D is singled out and thus begins his story.

CONCLUSION

It would be appropriate to conclude by quoting Zavattini who highlights the importance of reality in such movies by saying “The reality buried under the myths slowly reflowered. The cinema began its creation of the world. Here was a tree; here an old man; here a house; here a man eating, a man sleeping, a man crying... the cinema.... Should accept, unconditionally, what is contemporary. Today, today, today.”(Cook, 441)

REFERENCES

- [1] Bazin, Andre (1971), *What is Cinema*, Vol 2 trs.by Hugh Gray, University of California Press, London.

- [2] Bazin, Andre (1988) An aesthetic of reality: Neorealism (Cinematic Realism and the Italian School of the Liberation). In *Post War Cinema and Modernity. A film Reader*. Edinburgh University Press, Cambridge, pp 13-24.
- [3] Cook, David A (1990). *A History of Narrative Film*. 2nd Edn. W.W. Norton and Co., New York
- [4] *The Bicycle Thief*. (1948) Dir. Vittorio De Sica. VCD, P.D.S.
- [5] *Umberto D*. (1952) Dir. Vittorio De Sica. Dear Film.
- [6] Tomasulo, Frank P. (Spring, 1982). “‘Bicycle Thieves’ - A Re- Reading”. *Cinema Journal*, Vol 21, No.2.

History and Geopolitics: A Tussle between Transcaucasia and Russia

Richa Mani

Department of History, Kalindi College

maniricha@gmail.com

Abstract: *Pre-dominance of Russian culture and language in the Soviet regime has led to divergent views among the non-Russian population. One view holds that Russia has been a civilizing force and those who have been incorporated into Russian empire have been enriched by its culture. However, majority believes that hatred for Russia prevails among non-Russians because of the privileged status of Russians in the non-Russian territories; this explains why the coup of 1991 was celebrated by most non-Russians. This paper deals with one such non-Russian area- the Transcaucasia. The paper attempts to bring out the historic relationship between Transcaucasia and Russia and how it plays a role in current policy making in both the regions, especially in terms of security.*

Keywords: *Transcaucasia, Russia, History, Security.*

INTRODUCTION

The disintegration of the USSR in 1991 was celebrated by most non-Russians as the destruction of the two empires- the Soviet and the Russian. At the same time many believed that Russian imperialism had been a civilizing force that had enriched the people who have been incorporated into the Russian empire. In the minds of non-Russian, Russians were associated with soviet power and also to their lack of freedom. The soviet power was synonymous to the Russian power to the non- Russians because of the predominance of the Russians in the government of USSR and CPSU apparatus, privileged status of Russians living in other republics and also Russian language obligatory for everyone. Thus, the coup of 1991 was seen as a liberating episode for many non- Russians from USSR and Russia.

This paper deals with the relationship between Russia and Transcaucasia (Georgia, Armenia and Azerbaijan). In the present context the question of security for both the territories comes at the nucleus. The security question is the result of the perception generated as the result of the memories of the past. Russia is well aware of the fact that the conflict in its periphery will threaten the fragile integrity of Russian federation. It is very clear that the history plays a crucial role in determining Russian policy towards Transcaucasia and vice-versa.

To deal with the relation this paper is divided into four parts. As already mentioned the importance of history, the first part deals with a brief historical overview of Russian and soviet policy in Transcaucasia. The second part deals with the Russian perception of Transcaucasia. The third part deals

with the security concept of the three countries and the fourth part deals with the policy of Russia towards these countries.

HISTORICAL OVERVIEW

It was only in eighteenth century that Russia entered the Caucasian area. Before that the whole Transcaucasia remained divided among the Persian and the Ottoman Empire. Russian first intrusion into Transcaucasia in 1723 was to defend the Christian people of the area¹. In the next fifty years, Russia gradually acquired the control of northern Azerbaijan and eastern Armenia. Southern Azerbaijan and west Armenia remained with Persian and Ottoman Empire respectively. However the greatest difficulty with Russia was to deal with the hostile non- Christian mountaineers. In order to subdue them it produced enemies rather than loyal subjects. Resistance continued in the area until 1864, when entire north Caucasus finally came under Russian control. The consolidation of the Russian empire in the area was completed by the occupation of Batumi from Turkey in 1878².

Since Russia's first incursion in the area was for religious factors, it resulted to a perception with non-Russians that Russians have the essentially benevolent nature of Russian imperialism. Nineteenth century which followed the occupation witnessed efforts to Russify the empire, which can be seen as the process of consolidation. It was in 1890s that Russia began to generate official policy in Caucasus. However, Russian cultural imperialism had remarkably little effect,

- Armenian or Georgian churches were not incorporated into Russian orthodoxy.
- The Muslims of Azerbaijan and the north Caucasus were not converted to Christianity.

Besides this, they followed the policy of divide and rule and encouraged Azerbaijanis to attack Armenians. However it could not generate lot of resentment. On one side the younger generation in Armenia wanted autonomy for themselves, but the older ones were fearful of the ottoman attack (resulted from the mass killing of Armenians by Turkey) and chose Russians as better occupants. Although the Trans Caucasians were not getting actively involved for national separatism, they had sympathy for revolutionary ideas. RSDLP enjoyed great support in Georgia in 1905, which resulted to the creation of an all Russia Muslim league. It was after the repression of 1905 revolution that Georgian nationalism increased but the ethnic issues remained undefined. The area witnessed lot of ethnic

¹ Georgia and Armenia were the Christian areas. The king of Georgia in order to save the area from Turkish conquest voluntarily submitted the territory to Russians and finally in 1801 Alexander I annexed Georgia.

² As a result of the Russo-Turkish war 1877-78.

conflicts and because of this the national animosities were more frequently directed against rival national groups rather than Russia.

Amongst the revolutionary parties, Bolsheviks initially were determined to support the right of self-determination for all nations. However, after coming to power soon the policy was modified and they were now not willing to give up any land which belonged to the empire. In 1917 independent states of Georgia, Armenia and Azerbaijan were established. 1920 saw a successful communist uprising in Azerbaijan. Armenia was saved by soviet Russia from being taken over by Turkey on expense of loss of certain territory to Turkey. There was also the formation of an autonomous territory, Nakhichevan, geographically under Armenia but under the jurisdiction of Azerbaijan. Nagorno-Karabakh initially an autonomous area united to Armenia but in 1923 was transferred to Azerbaijan in spite of the fact that majority of its population were Armenians. In 1921, the Menshevik government in Georgia was forcibly removed and the area fell to Bolsheviks. North Caucasus was divided into a variety of autonomous republics and regions and was incorporated into the Russian soviet federative socialist republic (RSFSR).

National identity was strengthened under soviet rule with the encouragement of cultural development, the introduction of mass education and media in the local language and establishment of government and legislation in the three capitals.

The greatest sinister in soviet history was created by Stalin, when he decided during Second World War that various national groups had co-operated with the German occupational forces and he retaliated by deporting whole population to central Asia.

- At the end of 1943, Karachai autonomous area disappeared from the map when the karachai were deported from north Caucasus.
- By 1944, Chechans and Ingushi were removed and their autonomous republic was abolished.
- Kabardino-Balkar, became Kabardino when Balkars were deported.
- Meskhetians were also removed from Georgia by 1944.

Later, Khrushchev condemned the deportations in his secret speech at the 20th party congress in 1956 and began to re-habitat the deported people but it was not enough to erase the memories. With this historical background to Russia's relation to Transcaucasia now its impact on the perception over Russian policy will be seen.

RUSSIAN PERCEPTION OF TRANSCAUCASIA

The Russian empire had developed a notion of statehood, and thus many Russians find it difficult to accept that some areas are no longer part of Russia leading to a new identity and a new role for Russia. As far as Transcaucasia is concerned, the Caucasus has been an important and integral component of Russian culture and literature; it has been an important dwelling place of millions of Russians. The loss of such areas confirms that the old real sense of Russia no longer exists.

The problems with Russia after the disintegration of USSR are,

- Russia is not only forging a new post-imperial identity for itself but to define relationship between Russia and other successor states.
- Dilemma about Russia's role in the world.
- Russia is reduced from a superpower (after the collapse of USSR) to territorially a smaller area.
- It had to face economic collapse and political paralysis at the same time which makes it difficult to rise in near future.

The loss in the power status was taken as humiliation by many Russians. As S. Razgonov express it, "We are no longer one-sixth of the earth's surface... but we continue to carry with ourselves one-sixth of the globe... it is a scale we have become accustomed to". Russian perception of Transcaucasia is affected, firstly; by the extent to which the loss of the area has contributed to a diminution of Russia's status. However the question of Russian boundary is important not only because they affect Russian perceptions of the near abroad. They also matters in terms of how Russia defines its national interests and how it conceives its security.

The second major influence on Russian perceptions of Transcaucasia and other successor states is the effect of soviet historiography and the way it depicted Russian imperialism and relations between the nations that constituted the empire³. There was a need to promote unity between various nations making up the Soviet Union to ensure a united stand against Germany. Historians were instructed to extol Great Russian leadership, to emphasise the progressive nature of Russian colonialism and to affirm the cordiality of relationships between Russians and non- Russians.

Thus, Soviet histories of Russia and the Soviet Union began to highlight the long-lasting friendship between Russians and non- Russians. Thus the history written projected the entire annexations voluntary. As Margot Light mentions, "The colonisation of Siberia was interpreted as the peaceful settlement of undeveloped lands by intrepid Russian pioneers, whereas the Caucasus and central Asia

³ During 1920s the historians were critical of Russian imperialism and its effect on non- Russian people. But during 1930s, authorised version began under Stalin.

had been saved from incorporation into the Turkish, Persian or British empires”. She further writes that, incorporation of the territories in the soviet empire was seen by the historians as a ‘progressive phenomenon’⁴. They project that non-Russian people derive great benefit from the contact with the Russian culture. They (non- Russians) gained from the ideas of the revolution and the economic development strengthened the class struggle and the people embarked upon the path of socialist revolution⁵. The interesting fact is that the historical conflicts that existed between non-Russian people were ignored or explained as class struggle rather than national or religious conflicts.

Rewriting history reconstructed the Russian occupation of Caucasus. It mentioned, the annexation gave the people of Caucasus security, the opportunity for economic development and for contact with advance Russian culture and revolutionary thought. Great non-Russian leaders such as Shamil⁶ who had been admired in pre-war histories were now identified as reactionaries.

After the death of Stalin and particularly after 1956, there was less interference by CPSU in the writing of history. However, this non-interference did not modified the theme of friendship between Russians and non-Russians. The relation between Russians and non-Russians in the post-Stalin period continued to be defined as mutually beneficial. The war time deportations were explained regrettable.

During the perestroika period, historians were once again encouraged to rewrite the histories; this time to write what had been not written i.e. what really happened. At the same time the myth of the friendship between Russians and non-Russians were shaken by the conflicts between non-Russians after 1986 which brought independence to Baltic republics and Georgia.

Interestingly, however these conflicts and the rewriting of the history did not affected the view that Russian imperialism was benevolent and the non-Russians willingly accepted Russians as their leaders. The civilizing nature of Russia and its benevolent character is justified by the case of Caucasus where Russia intervened to defend the eastern Christians. Throughout the Russian history the Russian superiority is implicit and is also reflected in other factors that affect Russian perception of Transcaucasia.

The possibility that even if Russian imperialism saved Transcaucasia from the Islamic empires and brought great economic benefit, it might nevertheless have been deeply resented by the colonized people is not frequently discussed in Russia. As a result the Russians find it really difficult to understand why the non- Russians are suspicious of Russia’s intentions and why they tend to interpret the actions by the

⁴ This can be compared to the British concept of superiority and their civilising mission in case of oriental countries.

⁵ As the British imperialist writers argued that colonies like “India could not develop on its own as it was backward and it was British rule that was bestowing the fruits of modern development on India”.

⁶ Imam Shamil (1797-1871) was a political and religious leader of the Muslim tribes of the Northern Caucasus. He also led the anti-Russian resistance during the Caucasus war (1817-1864).

Russian leaders as attempts to reconstitute Russian empire. It seems self-evident to Russians that events in the other republics and particularly Transcaucasia undermine the security of the Russian federation and require policies designed to defend Russia.

SECURITY CONCEPT OF TRANSCAUCASIAN COUNTRIES

Regional conflicts that arose after the collapse of the Soviet Union have had a considerable effect on the national security concepts and foreign policies in Transcaucasia. Concerns about the possible outcomes of these conflicts have to a great extent influenced not only relations among these three Transcaucasia countries, but also relations with the outside powers that have or may have their say in the disputes.

ARMENIA

In order to ensure its national security Armenia implements a so called "complementary policy", this assumes the development of ties with both Russia/CIS and Russian- led security structures (Tashkent Treaty), and the U.S./NATO. However, the priority for the country remains the cooperation with Russia especially in the military sphere. This fear is fuelled by the centuries-old antagonism between Armenians and Turks. Russia is seen as the only power able to prevent Turkish influence in the region; and thus Armenian pro-Russian preferences are largely defined by its anti-Turkish orientation. There is also number of other concerns for the Armenian Republic.

Today the country does not have any official relations with two of its neighbours-Azerbaijan and Turkey. The economic blockade and isolation from regional projects, to which Armenia is subjected by its two neighbours, represent a serious danger for the country's development and have largely contributed to emigration.

AZERBAIJAN

Immediately after becoming independent, Azerbaijan had to face the confrontation and the violent conflict between the Armenian populations of the Nagorno-Karabakh an autonomous region and the central government. The consequences of the war were disastrous for the country both in terms of politics and economy. Today political priority for Azerbaijanis is to resolve the Karabakh problem. The issue of Nagorno-Karabakh in many aspects defines the policies and relations of Azerbaijan with its neighbours. While developing relations with other countries, Azerbaijan often views them through the prism of the Karabakh problem.

To counterbalance the Russian-Armenian alliance in the resolution of the Nagorno-Karabakh problem, Azerbaijan has chosen to improve and develop economic and political relations with the West and in particularly with the U.S. The only way to accomplish these goals was to resort to the 'oil card' and to

offer the territory of Azerbaijan for the West's new strategic routes to central Asia-in other words, it was necessary to return to the pro-western course of the foreign policy. The Western states, whose economic interests' are more in line with Azerbaijan than Armenia support Azerbaijan.

The alliance with Turkey is also seen as a counter balance to Russian influence and a move towards the West and NATO. The stance of Turkey regarding the Karabakh conflict has consistently been pro-Azerbaijani.

Despite the engagement of international monitors and mediators and regular but unproductive negotiations between the leaders of Armenia and Azerbaijan, there are forces within the country that still argue for a military solution of the problem.

GEORGIA

Georgia, like other post-communist states, was confronted first with the issue of survival as an independent state and then with the choice of strategic orientation. Georgia's foreign policy is largely determined by two main circumstances: the regional context and its dependence on a volatile Russia; and its internal weakness and disunity hindering the establishment of independent and confident foreign policy. Immediately following independence, Georgia faced an internal ethnic conflict with the Autonomous Republics of Abkhazia (1989-1993, when the cease-fire was established) and South Ossetia (1989-1992). As a result of these conflicts, as well as the general weakness of the Georgian State, the central government in Tbilisi lost control not only over the rebellious autonomous entities, but also over other parts of the country populated by national minorities: Adjara (with an Adjar population) and Samtskhe-Javakhetia. Thus, the re-establishment of the territorial integrity of the country is a clear strategic priority for the country's internal policy.

The country's current political elite perceives the role of Russia's supportive of secessionist regions and thus dangerous for the very existence of an independent state of Georgia within its current borders.

The reduction of the Russian military presence on the Georgian territory is seen as a counter-measure to the Russian influence in the region and is another important strategic aim for Georgia. Meanwhile, the country seeks more and closer links with the West. In terms of political links, Georgia seeks closer cooperation and integration with European institutions.

The main strategic goals of the country in terms of economic development are the attraction of foreign economic interests to Georgia and participation in regional projects. Participation in energy transportation projects plays a special role here. In terms of military security, Georgia is trying to counter-balance Russia's military presence in the country by cooperation with NATO.

Such cooperation includes aid in equipment and training from NATO and its member countries (especially the U.S.). President Shevardnadze supported the country's application to join NATO by 2004-2005. After the bloodless Rose Revolution in 2003 and transfer of power to Mikhail Saakashvili and his explicitly pro-western government these aspiration became even stronger.

Meanwhile, the political elites of the secessionist regions of the country are mainly pro-Russian and, in the case of Javakhetia, pro-Armenian, they see the presence of Russian military forces in the country as a guarantee of security vis-a-vis the central government in Georgia.

As a result, there is a major contradiction between the security perceptions of the central government in Tbilisi on the one hand and the regional governments on the other. While for Tbilisi cooperation and integration with Western institutions is seen as a counter-balance to Russia's 'destructive' influence and a precondition for re-establishment of the territorial integrity of the country, regional governments perceive the Russian presence in the region as a guarantee of security from the 'oppressive' centre in Tbilisi.

The independent countries of the Caucasus have clearly made their choice between two pro-Russian or pro-Western alternatives for their future foreign policy development. In the case of Azerbaijan and Georgia, the choice is in favour of the West, while in the case of Armenia it is in favour of Russia. The question remains, however, whether these choices are final and irreversible, as personalities continue to play a decisive role in Caucasian politics in general, this question also depends on who succeeds the current leaders.

EXTERNAL POWER: RUSSIA

In its dual status of a regional power and a global power, Russia naturally has vital interests in the Caucasian region. This reflects also the enhanced role the region has come to play in the world politics and the world economy. The situation in the Caucasus and around it has so far been one of conflict and uncertainty. Russia's sensitivity to conflicts in the region reflects not only its relations with external partners but also the interplay between its geo-political and geo-economic interests.

Russia is interested in mutually advantageous trade and economic relations with the states of the region, as well as the use of their transport capacities. The most important aspect of Russia's economic interests is, however, the production and shipment of regional energy resources. New routes, re-opening and re-employment of old ones and a new infrastructure may completely change the geo-strategic situation of the region and free the three countries from strong dependence on Russia. Political leaders in Moscow have a clear understanding that the power vacuum and security system that has existed in the region

since the collapse of the Soviet system is being filled by alternative forces. At the same time, the region represents a number of security threats and concerns for Russia. The region directly borders the Russian North Caucasus. Thus, in the event of new burst of unsettled ethnic conflicts here, Russia will get engaged in one way or another.

Besides, the newly independent states of the region have become subjects of keen interest of other external powers, which are openly competing with the Russian influence in the region. These states border with the biggest regional powers of the Middle East-Iran and Turkey, and the problems of the region will directly affect Russia's relations with those countries. For Russia, the region is also a source of serious threats, such as international terrorism, religious extremism, drugs and arms smuggling, migration, refugees, etc. The breakdown of the Soviet Union also opened up the region to two other regional powers-Turkey and Iran that are actively pursuing their own interest in the region. Now, with the region having become open to external players, there is an inviting prospect for Iran to re-establish cultural links with countries that for centuries were parts of the same Persian Islamic civilisation.

CONCLUSION

Security is a relational phenomenon and any attempt to study security faces the problem of a net of relations in which one particular issue of security is embedded. The active engagement of external powers in the security affairs of the region proves to be rather controversial. External powers are pursuing their own interests in the region; however, despite some possible overlaps with the interests of the regional states, this should always be viewed as a temporary state of affairs, and not a long-term solution to security issues of the region. Considering the size (territory, population, economy, military power and political influences internationally) of the regional states in comparison with the size of external players, it is not difficult to see that regional entities have very little power to influence the policies of external players and instead are being manipulated into bigger security game. By opening up the region to external players as perceived providers of security, the South Caucasian states are putting themselves under the risk of becoming a mere 'battlefield' for the interests of bigger players. Obviously, being a battle field can never mean more security and stability and rather implies further militarisation, isolation and additional obstacles to a long-term development and stability of the region.

Hence, it is unlikely that any agreement on these conflicts will go beyond a mere formality and will bring stability and long-lasting peace. Instead, cooperation in the spheres, where common goals and gains are obvious, can create good relations, help to deal with the troubled prehistory and shift the attention from the more sensitive and therefore currently non-resolvable issues. This type of close

cooperation has the potential to create a regional society, where regional identities are considered to be complementary to each other, non-contradictory and not mutually exclusive. It can also create an environment of trust where new solutions to today's conflicts can become apparent. Security issues are important not only to individual nations but also to maintain peace in the region.

REFERENCES

- [1] Begoyan, Anush (2006), National Concepts of security and the Problems of Integration in Transcaucasia, *Brill*, 10, 2, pp. 287-301
- [2] Fuller, Elizabeth (1993), Mediators for Transcaucasia's Conflicts, *The World Today*, 49, 5, pp. 89-92.
- [3] Jones, Stephen (1988), The Establishment of Soviet Power in Transcaucasia: The Case of Georgia 1921-1928, *Taylor & Francis*, 40, 4, pp. 616-639.
- [4] M.B. (1940), Transcaucasia in the Soviet Economy, *Bulletin of International News*, 17, 10, pp. 573-576.
- [5] Pipes, Richards (1959), Demographic and Ethnographic changes in Transcaucasia, 1897-1956, *Middle East Journal*, 13, 1, pp. 41-63.
- [6] Sarikissian, A.O. (1936), Soviet Transcaucasia, *Foreign Affairs*, 14, 3, pp. 526-529.
- [7] Yepifantsev, Andrey (2011), Russia in Transcaucasia: What's Gone Wrong?
<http://eng.globalaffairs.ru/number/Russia-in-Transcaucasia-Whats-Gone-Wrong-15334>

Walking through the historical memory lanes of the Chishtiyya Jamaatkhanas with special notes on the sources of Khwajas Qutb-ud-din Bakhtiyar Kaki and Nizam-ud-din Auliya

Adity Chowdhury

Department of History, Kalindi College

Abstract: *Chishtiyya in the medieval Indian history is the most prominent silsilah amongst many.. Pirs of this silsilah created an ideology that became a pattern for esoteric teachings. With this in mind I have tried probe if it would be correct on our path to regard them as mystics or more aptly followers of Tasawwuf, having enjoyed religious interaction with various heterodoxical communities present during the formation of Dehli Sultanate during thirteenth and fourteenth centuries. However can the sources be re-visited so as to understand how mystical they were when they approached Zimmis and Kafirs or non-believers. Through this article I have tried to establish the fact that core or the Dehli Sultanate might not have encouraged apostasy but in the periphery changes happened that needed to be focused.*

Keywords: *Chishtiyya, Dehli Sultanate, Tasawwuf, Islam.*

INTRODUCTION

Islam has often been conjured as religion in pursuit of widespread destructions, rapine activities and encouraged, last but not the least coercive conversions. Traversing through this, the understanding of Islam remained myopic and continues to be so, unfortunately! Notwithstanding the sources narrate a complete different history. Because of this, sifting of the sources from the myths becomes important to arrive at logical conclusion. But, looking at today's scenario, Islam is associated with many things like terrorism, radically motivated religion, politically backward. Therefore 'whoever has preserved one life, it is as if he has saved all of humanity,' (Quran 5:32) remained in their holy book but could not be asserted with full conviction. Continuous combating with fanaticism and rigidities Islam has started losing its identity which had one upon a time appeared promising. Thus this kind of anomalies resulted into an embittered religio-cultural ambience.

With all this nuances in mind, I have chosen a topic which had from the very onset taken medieval India and world in storm. In this context, I have taken chistiyya silsila and tried to probe their affinity for the medieval state and fidelity for other religions.

Sufism or most widely known as Tasawwuf, was the path chosen by them to preach gnosis or 'marifa' is widely regarded as Sufism. For laities, Sufis were a part of softer religion meant to eradicate jihad-i-asgar. Even for many scholars, Sufis were the preachers of unity in diversity, secular ideologies

encompassing heterogeneous brotherhood, that is, asabiyya and inter-racial and cross-cultural interaction through the principle of 'Wahdat-ul-Wujud' (Unity of Being or Ontological Approach), propounded by Ibn-al Arabi.

Sufis have been considered as group of people who sought personal encounter with the divine and so the path or *salat at-tariqa* chosen by them to attain *Taifa* eventually had made them popular among all strata of the society. The mystical Muslim tradition known as Sufism was intimately associated with the cult of the saints or *Awliya* from early in its history. The dichotomy was drawn by earlier generation of scholars between an authentic sophisticated and textual Sufi tradition and decadent popular and non-literate tradition of the veneration of living or dead saints has obscured the actual nature of Sufis and Sufism. Sufism made use of the materials provided by the religious scholars that described knowledge as light. Going far beyond it, Sufi thinking was pervaded by the symbolism of light in its manifold manifestations. All true spiritual insight is characterised as Light, a light that is inescapable for devoted seeker after knowledge. Numerous were the Sufis who were ready to 'see by the light of God.' Sufism comprised the religious way of both the popular Muslim masses and the smaller number of elevated mystics. Through a narrative, what had genuinely began as a 'mystical' movement of individuals seeking personal communion with God was corrupted in the medieval period into a cult of miracle working saints, which held nothing in common with 'true' Sufi mysticism. With this arises what does mysticism stand for in this context? And the answer that most of the Sufis gave as love of the Absolute-- - for the power that separates true Mysticism from mere asceticism is love. Divine love makes the seeker capable of bearing, even of enjoying, all the pains and afflictions that God showers upon him in order to test him and to purify his soul.

Much dispute surrounds the role of the *Tasawwuf* seekers in *Mamluqat-i-Sultanate-i-Hind*. As I have mentioned earlier, large number of medieval sources appertaining to Sufi way of teaching or popularly understood as *Malfuzat* did not however mention about proselytization done in various peripheral areas and whether they were to be ear marked as the whistle blower in the path of Islamization. To understand their role as the promulgator it is needed to be re-visited political sources written in the then period of our topic.

The foundation of Dehli Sultanate in 1210 CE brought in subtle undercurrent of acculturation and voluntary assimilation of heterogeneous cluster of people, having had different religious affiliations. *Tarikh* narratives of the aforementioned period--- commissioned or uncommisssioned bemoaned about the inability of the state to convert or implement death or Islam as comeuppance in the land of infidels.

Political thinkers like Zia-ud-Din Barani,⁷ who in his literary composition had disdainfully contested the meaning of Zimmi. For him, zimmi were not to be protected, for they did not have *Mushabih ahl-Kitab*. Therefore any kind of leniency shown towards them was uncalled for and on the other hand, Fakr-i-Mudabbir,⁸ another medieval thinker gave the clarification of jihad and saying that if the presence of countenance for Islam was not present in the hearts of the infidels then waging jihad was the only probable answer for the making of Dar-ul-Islam. Conversely speaking, thoughts like this encouraged us to cross-examine what can fondly be termed as Tarikh literatures and in the midst of the conundrum, how the Sufis especially Chishtiyya promoted concord and followed conciliatory policy towards this called heterogeneous communities?

After vivisectioning the ballasts of malfuzat available at our disposal, the mystical association of Sufi Pir with their beloved is juxtaposed with their spiritual ideology, that is, *wahdat-ul-wujud*⁹ (Unity of Being) and words like incorporations and integrations of the Zimmis within the Islamic fold was avoided.

Of particular interest, is the question, were Sufis interested in proselytization and Islamicization in medieval India? Sufi traditions of the last half of the sixteenth and early seventeenth centuries, had celebrated the images of leading Sufi masters as Islamizers in various parts of the Indian subcontinent. Work of Shah Wali Ullah, erstwhile Pir of Naqshbandiyya Silsila, gives us a prismatic view of his antipathetic feeling and love for *ghizwat*.¹⁰ Scholars like Eaton and Ernst have identified Sufis shaikhs facilitating Muslim conquests and thus contributed to the expansion of Islam in India.¹¹

Modern scholars have faced predicament in interpreting the Sufi sources. For example Sufi literatures such as malfuzat, 'discourses' of a Sufi, in the context of North India do not give any contrary evidences, but history of medieval south India portrayed protraction altogether in different manner. *Maktubat* and *Tazkiras*¹² were widely written documents in south India, during last half of the thirteenth and the beginning of the fourteenth centuries, showed Islam as iconoclast. Epic of conquest in the guise of *maktubat* advocated the Islamic victory over idolaters and idolatries. This led too many contestations as to how to make sense of the political and non-political sources and what plausible conclusions could be arrived at.¹³ Literatures of the 60s and 70s suggested that Sufis kept themselves away from Sultanate of Dehli. In fact, Qutb-ud-Din Bakhtiyar Kaki continued with the policy of non-involvement with the

⁷ Barani. Zia-ud-Din, *Fatwa-i-Jahandari*

⁸ Mudabbir, Fakr-i-, *Tarikh-i-Fakr-i-Mudabbir Shahi*

⁹ Sharif, M.M., *Muslim Philosophy*, Vol. I

¹⁰ Ullah, Shah, *Tarikh-i-Muhammadiya*..translated by Harlan Pearson

¹¹ Eaton, Richard. M, 'Sufis of Bijapur 1300-1700', Munshiram Manoharlal, 1996, 2011; Ernst, Carl, 'Eternal Garden', OUP, 2004

¹² *Maktubat* is compilation of letters and *Tazkiras* are biographies written about Pirs or Nobles

¹³ Aquil, Raziuddin, 'Sufism and Society in Medieval India,' OUP, 2010

government, for he and other pirs believed that involvement in politics would lead to fascination for worldly goods and this distancing was due to the fact that they perceived of Dehli Sultanate as an illegal state or 'Haram.' Thus, Sufi saints of Chishtiyya silsilahs, had not only refused to accept money or land grants from their rulers, but also declined to make a person their disciple till he had left government service. Further their abhorrence to politics compelled them to stay away from hustle bustle of political influence and establish their hospices in the localities which were inhabited by lower caste Hindus. The spiritually hungry depressed classes felt connected with the principles of Islamic brotherhood and egalitarianism and getting islamised. It is very much essential to note that there was no evidence of even a single case of incorporation noted in the mystical records of the Dehli Sultanate.¹⁴

This fascinating image of true Islam represented by Sufis had paved the way for large-scale integrations of the lower classes in the fringes of the core area i.e., Dehli Sultanate. Sufis were the arch binger of secularism and communal amity in North India, but in far flung areas, they were as hostile to the infidels as theologians demanded the state to be. Thus, contrary to the assertions made by Mohammad Habib and Nizami, the Sufis, including the 'great' Chishtiyya of the Sultanate did participate in the politics. Some of them, however, visited reigning monarchs, paid obeisance to the rulers and others might have felt that a tactical distance from the rulers was advisable in order to attract large number of non-Muslims. That is why Sufis decided to establish their hospices in the centres of political influence or in areas made sacred by non-Muslims religious traditions. A valuable portion of this literature was in circulation in the middle of the fourteenth century and used by authorities such as Shaykh Jamali and Abdul Haqq Muhaddis Dehlawi, is now dubbed as 'forged' and hence considered to be devoid of any historical value. The other set of sources are treated as fabricated because [a] they contain principles and practices which are at variance with what is expounded in the authentic texts; [b] the narrators and compilers commit blunders about well-known facts, they contain horrendous tales of miracles. Since these Malfuzat are supposed to be collections of conversations taking place between the Sheikhs and his disciples in the hospice, the cut-off date for the composition of a particular collection should be the date of the death of the Sufi in question. Finally for nearly four decade, the history of religions or ideas was a neglected stream, because of the dominance of the Marxist historians in the field of medieval Indian history. The historians of this school' did not see any role of the 'parasitic' Sufis in the political economy and hence their literature was considered to be of no value.¹⁵

¹⁴ Ibid

¹⁵ Habib, Irfan, 'Slavery in the Delhi Sultanate, Thirteenth and Fourteenth Centuries: Evidence from Sufic Literature,' IHR, Vol. 15, Nos 1-2, 1988-89, pp. 248-56

Qutb-ul Aqtab Hazrat Sayyid Muhammad Qutb-ud-Din Bakhtiyar Kaki was born in 569 A.H (1173 CE) at Osh in Transoxiana and was Sufi mystic, pir and scholar of the Chishti order from Dehli. He was the Khalifa of Khwaja Garib Nawaz or Muin-ud-Din Chishti and the person to whom the Qutb Minar is dedicated. Before him, the Chishti order was confined to Ajmer and Nagaur. He played a major role in establishing the order securely in Dehli. His Jamaat Khana or Dargah is located adjacent to Zafar Mahal in Quila-i-Kuhn or Mehrauli, and, the oldest Jamaatkhana in Dehli is also the venue of annual Urs festivities. It was held in pomp and splendour by Qutb-ud-din Aibak, Iltutmish who built a nearby step well, Gandhak ki Baoli for him, Sher Shah Suri built a grand gateway, Bahadur Shah I built Moti Masjid nearby and Farrukhsiyar added a marble screen and a mosque. He was a descendant of the Prophet Muhammad, descending through Hussain ibn Ali. After taking his oath of allegiance at the hands of Khwaja Muin-ud-Din Chishti received Khilafat and Khirqah-i-Iradat from him.

He had tremendous influence over people during thirteenth century. Within Chishtiyya order he developed the traditional ideas of universal brotherhood and charity. This led to the new dimension of Islam that was never there earlier in India. He took immense pride in Fakr (poverty), Zzakr (charity), Qurb (proximity) and Muhabbat (love). He, like other pirs of the silsila did not formulate any formal doctrine. He used to hold to majlis where he preached his discourses and these discourses were directed at common man and emphasised on renunciation, that is, zuhd, having complete tawakkul (trust) in God, treating all humans as equal. In other ways through his teachings he exercised great influence over the people. Shaykh Nizam-ud-Din Auliya, the brilliance of the Chishtiyya traditions in Dehli, was virtually extinguished in the mid-fourteenth century. The chishtiyya policy of maintaining aloofness from the court developed into an open and mutual hostility that resulted from conflicting notions in the court and the Jamaat Khana about the Sufis' proper role in society. For their part, the chishtiyyas under Nizam-ud-Din Auliya had fallen under the mystical influence of Ibn Arabi, which involved, among other things, a withdrawal from the affairs of the world and a devotion to "spiritual splendour and concentration on the individual soul." Sufi sources of the period however reveal that the views mentioned above need a drastic revision.

The success of Auliya's mystical effort was due to effective use of ilm (knowledge), ishq (cosmic emotion) and 'aql (practical wisdom) as means for the proliferation of ideas. To Shaykh Nizam-ud-Din Auliya belongs the credit of introducing a principle of movement in the mystic structure with a view of carrying forward its message. As a result of his activity, hundreds of Khanqahs and later came to be known as Dargahs were established in the country and thousands of disciples became active in propagating the chishtiyya ideology. It was from his time spiritual genealogies (shajra) were introduced

in Khilafat namahs to articulate the traditions of saints who had gone before and establish historical links with them. According to Amir Khusrau, 'he awakened the elder saints (shuyukh) from their sleep.' Contemporaries called him Junaid-i-Thani, Ghauth-ul-Azam, Shaikh-ul-Waqt, etc., and paid eloquent tribute to his spiritual achievement. The cornerstone of his ideology was the formation of God-conscious personalities and he believed that whoever developed love of God in his heart ceased to be vulnerable to sin. For him God was an all-embracing Reality present in his ethical, intellectual, and aesthetic experience. The Shaykh believed that one who caused pain to any human heart could not attain spiritual excellence. He developed his own unique and effective method of instructing people. He avoided direct discussion of specific problems. He spoke instead through anecdotes and parables which were extremely apt and went straight to the hearts of people. In his opinion example taught better than precept. He thought that most important difference between the approach of the Ulema and the dervishes was that, while the former approached people through advice and precept, the Sufis influenced them through example. Miracle-working had no place in the teaching of Shaykh Nizam-ud-Din Auliya. Fawaid-ul-Fuad gives no references to miracle working. Apart from all these, when we start looking at the history of South India in the medieval period we find Sufis came in disguise of warriors.

We have plenitude of sources describing chishtiyyas as spiritual and mystical community, preaching peaceful co-existence, pluralism and amicable relationship with other strata of the society. But in the sphere of South India, Sufis emerged as warriors. The first Sufis to enter the Bijapur plateau are designated in Muslim hagiographic literature as the 'chalk of the dawn' of Islamic civilization in the Deccan.¹⁶ They are the ones who are remembered as having first carried Islamic culture into the area. Yet such individuals are also generally pictured in the same literature as militant champions of Islam. Placed in a disturbed social and political context, namely Dar al-Harb, these Sufis usually emerged waging Jihad (holy war), slaying countless infidels against overwhelming odds and, more often than not, being themselves slain and martyred in the process. The context, according to this body of literature, is the expanding Islamic frontier, the unit the armed Sufis, and the theme an ideological-military struggle. The first problem, the gap between the Sufis and his recorder, is heightened by the nature of the recording sources themselves. In learning about the lives of Bijapur's earliest Sufis we are nearly entirely dependent upon a single class of literature, the Tazkiras or Biographies. These oral traditions that had been passed down for many centuries among people associated with a taifa or saint-cult. Even in Tazkiras that did serve a cult, present or past, there is still more information whose accuracy is highly probable. These biographies did not recount the lives of Sufis as it they had lived in an historical vacuum

¹⁶ Rauzat al-Auliya, Tazkira-yi Auliya-yi Dar al-Zafar Bijapur, compiled by Muhammad Ibrahim Zubairi

isolated from the world of sultans and rajas, of wars and famines, and all the other events or personages that serve as time makers in that past. These tazkiras make reference to events, places or persons that were not necessarily intrinsic to the lives of the Sufis but that could be checked against other, non-hagiographic, sources for their accuracy.

Thus to conclude, these two Chishtiyya Pirs who had associated themselves with the dissemination of Islamic principles had followed different style of Islamization. With the construction of Qutb Minar, the victory of Islam was highlighted and on the other hand, murid of Baba Farid Ganj-i-Shakar, Shaykh Nizam-ud-Din Auliya introduced many features that became 'compulsory' for all the aspiring murids. However, malfuzat in the context of north India refused to portray them as warriors. Although miracle-working is not there yet 'Karamati' became one of the most sought after methods for incorporation.¹⁷ For example in the case of Bijapur, Tazkira-yi-Auliya-i-Dakan (Biographies of the Saints of the Deccan) compiled by Abd-al-Jabbar Mulkapuri, in 1912-13, was an inveterate biographer of prominent Muslims of the Deccan hagiographic literature, much of which was not compiled until as late as the nineteenth century. Trimmingham has given caveat of using tazkiras. He feels tazkiras or biographies were designed and consequently distorted, to serve the cult of the saints. Apparently manifestations, deeds, and qualities were dealt with fineness so much so that it appeared to be real to the believers, but they obscured historical truth and personality.¹⁸

Sanctified as a saint, these Sufis thus became a folk Indo-Muslim archetype whose historical function was to render a degree of religious legitimacy to Delhi's military conquest of the Deccan. Such an interpretation might explain the identity of the hundreds of followers that in both tazkiras were said to have accompanied Sufi Sarmast: though called 'Sufis' in the hagiographic tradition for purposes of legitimacy, they in fact might have been body of armed retainers or mercenaries in service to some Muslim military adventurer. For while 'ghazi' generally means soldier, it refers more specifically to a religious fighter in the cause of Islam, and closely associated with the early part of Islamic history, the period of its political-military expansion. Similarly 'murid' refers generally to a disciple of a Sufi, by the thirteenth century when the development of Sufi orders was passing through into its tariqa phase; the term also denoted a man who granted quasi-mystical, quasi-militant leader an unquestioning and even fanatical obedience. So, on one hand they were ghazis, fighters for Islam, on the other hand were ardent murids- fanatically devoted followers of their pir.

¹⁷ Greene, Nile, Sufism

¹⁸ Trimmingham, J. S., 'Sufi Orders in Islam,' OUP, 1971

Folk songs in Hindi Cinema

Mamta

Department of Journalism, Kalindi College

d.mamta85@gmail.com

Abstract: *In India songs are an integral part of dramatic tradition. This led to the adoption of songs in cinema as well. Earlier films used to have lots of songs. Since stories used to be set in villages, use of folk songs was quite frequent. Music composers like Shankar-Jaikishan, O.P.Nayyar, Laxmikant-Pyarelal and S.D. Burman used folk tunes in their compositions. However, in Hindi films folk songs were not used to get a wider acceptance in their original forms. Nevertheless, this hybridization of folk songs with the popular music has given recognition to various folk forms and uniqueness to the popular music itself. Who could forget timeless classic numbers like Dharti kahe pukar ke (Do Bigha Zamin), Saiyan jhooton bara sartaj nikla (Do Aakhen Bara Haath), Nain lad jayiye hai' (Ganga Jamuna), Bichua (Madhumati), Chalat musafir (Teesri Kasam), Sun mere bandhu re (Sujata) or O re majhi mere sajan hain us paar (Bandani), Dil Hoom Hoom Kare and Samay O Dheere Chalo (Rudali), Jhoot bole kawa kate (Bobby), etc. In recent years new age music composers have brought focus again to folk songs. New age music composers have given songs like Bhumro (Mission Kashmir), Banware (Luck By Chance), Chaiyya Chhaiyya (Dil Se), Dhol baaje, Nimbura (Hum Dil De Chuke Sanam), Genda Phool (Delhi 6), Monta Re (Lootere), Kesariya Balam (Dor), Navrai Majhi (English Vinglish), Banno (Tannu Weds Mannu), O womaniya (Gangs of Wasseypur), etc.*

Keywords: Folk Songs, Hindi films, Music composers, O.P. Nayyar, S.D. Burman, Bhupen Hazarika.

INTRODUCTION

In Indian dramatic tradition songs are of great importance since ancient times. Film critic, Shoma A. Chatterji, in her article 'The Culture Specific use of Sound in Indian Cinema', writes, "Alam Ara included about a dozen songs. Another early Hindi film, *Indrasabha*, is said to have had around 59 songs. *Shirin Farhad* had 42 songs. An early Tamil film is said to have had over 60 songs. All the sound films produced in India in these early years had a profusion of songs" (Chatterji, The Culture Specific use of Sound in Indian Cinema, 1999). Folk music directly comes from the daily lives of people residing in a particular area. In India folk songs are rooted in various folk traditions in different parts of the country. Such songs are sung on weddings, births, etc. in villages. Folk music is not taught in the same way as classical music is. This is the basic difference between folk and classical music. In folk songs various instruments are used which are made from the natural material found in a particular geographical area.

HYBRIDIZATION OF POPULAR AND FOLK MUSIC

Though folk music is known and popular among the local residents of a particular area, use of folk songs in films has given them a wider platform. In many films folk music is not used in its original form. Hindi words are used to gain the acceptance from a larger audience. Shoma observes, “Into the new medium came a river of music that had flown through unbroken millennia of dramatic tradition. While this strengthened the film, it also had other effects. It struck a mortal blow to rural and folk theatre performances in villages and small towns. The sound film almost wiped out the reborn theatre with one brush of its hand. While cinema appropriated folk song and dance to its purposes, it changed these along the way. In their new environment, they began, quite naturally, to respond to new influences. The songs were formed through new instrumentation and new, sometimes, Western rhythms. Musicologists, just beginning to discover the same folk music, howled in anger at this sudden hybridisation and plagiarism of traditional Indian tunes. Today this very 'hybridisation' defines the unique persona of Hindi film music and songs.” (Chatterji, *The Culture Specific Use of Sound in Indian Cinema*, 1999)

RUSTIC TOUCH FOR AUTHENTICITY

In recent years focus of films has shifted from global urban audience to rural areas and small towns. Therefore, folk songs are being reinvented to give a rustic touch and authenticity to the film setting. One of the reasons for this shift is the rise of young directors and script writers from small towns. These writers and directors are bringing new stories to the forefront and experimenting with various genres.

In an interview given by Anwar Khan Manganiya, Rajasthan's popular vocalist, he says, “it's good to see that Bollywood films are using folk music, but they should incorporate it in its original form...I am both happy and sad with the way Bollywood movies are using folk songs. We are getting a platform through films and it is a nice progress for artistes like us, but we also want our songs to progress too. People should be happy after listening to our songs...People don't understand many of our songs through words but they understand the rhythm and connect with that, so our songs should be taken by Bollywood but not in half form or with some editing.” (Nivedita, 2016)

There was a time when one could hear folk melodies very frequently in films. One could still recall songs like '*Nain lad jaiye hai*' (Ganga Jamuna), '*Bichua*' (Madhumati), '*Chalat musafir*' (Teesri Kasam), etc. In recent years we have witnessed songs like '*Bhumro*' (Mission Kashmir), '*Banware*' (Luck By Chance), '*Chaiyya Chhaiyya*' (Dil Se), '*Dhol baaje*', '*Nimbura*' (Hum Dil De Chuke Sanam), '*Genda Phool*' (Delhi 6), etc.

FOLK MUSIC OF 1950S AND 1960S

The film *Teesri Kasam* is worth mentioning here. The music was given by Shanker-Jaikishan. The film had songs like ‘*Chalat Musafir moh liya re pinjre wali muniya*’, ‘*Lali Lali Doliya Mein Lali Re*’, etc. ‘*Chalat Musafir moh liya re pinjre wali muniya*’ is inspired from the local folk tradition of Uttar Pradesh. Similarly, the song ‘*saiyyan jhoothon ka bada sartaj nikla*’ from the film *Do Aankhen Barah Haath* also uses the folk instruments. Pankaj Rag in his article ‘*Trends in Hindi film music with special reference to socioeconomic and political changes*’ in the book *Routledge Handbook of Indian Cinemas* writes, “Vasant Desai used the Marathi folk styles of ‘*pawda*,’ ‘*lavni*’ and ‘*tamasha*’ in many of his creations, ranging from songs like ‘*Bhai sawdhan son bhanwar ud jaega*’ and ‘*Dekho mori umariya hai bali*’ in *Matwala Shayar Ramjoshi* (1947), to ‘*Main jagoon tu so ja*’ in *Do Aankhen Barah Haath* (1957). Khemchand Prakash and Jamal Sen brought in Rajasthani folk influences in films like *Bharthari* (1944) and *Shokhiyan* (1951), while Naushad brought in the folk tunes of Awadh and eastern Uttar Pradesh to emerge with melodic and grounded creations in a number of films like *Rattan* (1944), *Mela* (1948), *Dulari* (1949), *Baiju Bawra* (1952), *Mother India* (1957), *Ganga Jamuna* (1961), *Sunghursh* (1968), etc...At the same time, S.D. Burman came up with modern idioms and oscillating rhythms (for example, ‘*Jaanni tum to dole daya dasi ke*,’ ‘*Mora gora ang laile*’) in a unique mixture of folk influences (ranging from the *bhatiyali*, *jatra* and *saari* of Bengal and north-east India, to Goan folk rhythms) with a new, interactive, sometimes intense and sometimes coquettish, expressive mode (which was in tune with the slightly bohemian and fashionably romantic image of the post-independence young man as exemplified by Dev Anand who romances in much more free, boisterous and rejoicing fashion and who even sees law and crime with a different viewpoint).” (Rag, 2013)

Peter Manuel in his book *Popular Musics of the Non-Western World: An Introductory Survey* writes, “In the forties and fifties, three of the leading Hindi film directors – Hemant Kumar, S.D. Burman, and Salil Choudhery – drew considerably on the folk music of their native Bengal. This Bengali dominance was moderated only after the late fifties with the emergence of the more eclectic Naushad. (Manuel, 1988)

Taking note of Salil Choudhery’s contribution towards the music, Antara Nanda Mondal and Peeyush Sharma in their article ‘Bengal’s Music and Its Influence in Hindi Film Music’

write, “He is known for his eclectic combination of Bengal folk with Western classical and banked on creating honey sweet melodies... Hence, you have westernized background of a pure Indian melody in *O sajna barkha bahaar aayi* (*Parakh*, 1960) and you have the Mozart-inspired *Itna na mujhse tu pyaar badha* (*Chhaya*, 1961) with an unusual *Bhairavi* movement. This again is a continuation of the Bengal

influence of using an eclectic fusion of Western and Indian classical music. The songs of *Madhumati* and *Do Bigha Zameen* are soaked in folk.” (Mondal & Sharma, 2015)

Hemant Kumar Mukherjee used folk tunes in the films like *Nagin* (1954). His music was heavily inspired by Bengali folk music and he also experimented with merging the folk music with the light music. The film had memorable melodies like ‘*man dole mera tan dole*’, ‘*Jadugar saiyan*’, etc. Ashok Damodar Ranade in the book *Hindi Film Song: Music beyond Boundaries* writes, “Hemant always asserted that he derived his inspiration from Rabindra Sangeet and lamented the fact that modern composers in films were totally isolated from the creative process of film making.” His music in the film *Nagin* (1954) got very popular and for it he also got a Filmfare award.

Devesh Sharma in the article ‘Flashback Friday: Profiling Hemant Kumar’ writes, “The pinnacle of Hemant Kumar’s success as a composer came with Guru Dutt’s *Sahib Bibi Aur Ghulam* (1962). Guru Dutt had always worked with either SD Burman or OP Nayyar. It was a matter of pride for Hemant to be chosen for an adaptation of Bimal Mitra’s novel about decadent nobility. Each song is a masterpiece, whether it’s the pathos-filled *Na jao saiyaan chhuda ke baiyan* by Geeta Dutt, bringing out the pain of Choti bahu, or *Piya aiso jiya mein samaaye gayo re*, again by Geeta, highlighting her fake joviality. Both songs were variations of Rabindra Sangeet. Asha Bhosle too got her due with the naughty *Bhanwara bada nadaan hai* on one hand and the lament filled *Meri baat rahi mere man mein*, which had elements of Baul (Bengali folk music)... *Kohra* (1964) produced by Hemant, gave Lata another mesmerising song, *Jhoom jhoom dhalti raat*. The film is famous for the most romantic of his compositions, *Yeh nayan dare dare*. The musical accompaniment is secondary as his soulful voice takes over. He also had the light hearted *Rah bani khud manzil* in the film as well. Hemant perhaps reserved his best for Lata. In *Anupama* (1966), the minimalist orchestration of the song *Kuch dil ne kaha*, which speaks of love’s first bloom suits the conversational lyrics. Lata got another great song, *Dheere dheere machal* and Hemant himself sang the soulful dirge, *Ya dil ki suno duniyawalo*. In *Majhli Didi* (1967), Hemant did a Dada Burman, using Bhatiali folk to compose and sing *Umariya bin khevak ki naiyya*, a neglected gem.” (Sharma, 2016)

DISAPPEARANCE AND RE-EMERGENCE OF FOLK SONGS IN FILMS

Earlier the films used to be set in villages so there was frequent use of folk songs. With the fast paced urbanization and the shift of focus on global audience, folk songs either disappeared from films or got modern touches by the new age music composers. Ruchika Kher in her article, ‘Why don't we hear folk songs in Bollywood films nowadays?’ observes, “Among the older composers who had utilised folk

tunes were Shanker-Jaikishan, S.D. Burman, O.P. Nayyar and Laxmikant-Pyarelal. Younger composers like A.R. Rahman, Shankar-Ehsaan-Loy, Vishal-Shekhar and Piyush Mishra have re-visited the genre, but with modern touches... While Shankar-Ehsaan-Loy gave the Kashmir folk song 'Bhumro' in 'Mission Kashmir' and 'Banware' in 'Luck By Chance', Rahman churned the hit 'Chaiyya Chaiyya' from 'Dil Se' and Piyush Mishra created 'Ranaji' from 'Gulaal'." (Kher) She quotes Rajnigandha Shekhawat, a folk singer from Rajasthan, "The audience needs to be more receptive to folk singers. In the end it's a numbers game. If folk (music) starts to make more *money people will start selling it more. And money comes only from the audience*". (Kher)

Earlier films catered more to the rural folk song and music because India largely lived in villages. With large cities coming to life the use of folk tradition also had to change. South Asian Folklore: An Encyclopedia edited by Peter J. Claus, Sarah Diamond, Margaret Ann Mills states, "Untill the mid-1940s, film songs were performed by singer-actors, like the renowned K. L. Saigal (1904-1946). Many songs consisted of ghazals (simplified light-classical refrains) or stylized folk tunes. Film music acquired a more distinctive character after World War II, with the advent of "playback" singing, in which the actors would mouth songs separately recorded by professional singers. A syncretic mainstream film style soon emerged. On the one hand, this style retained traditional instruments like the dholak barrel drum, indigenous vocal ornamentation, and familiar rhythms and melodic modes. On the other hand, music directors combined these features with western instruments (especially violins), western concepts of orchestration, and chordal harmony. Rock and disco influence became increasingly strong from the 1980s.... Production has always been dominated by a handful of music directors and playback singers (such as Lata mangeshkar and Asha Bhosle), and the industry has generally striven to create a common-denominator, relatively homogenous style for an otherwise diverse mass audience. The growth of regional cinema has counterbalanced this trend to some extent, although regional film music styles, while drawing liberally from local folk genres, have also tended to imitate the mainstream Hindi style... Film music, a professional, studio-based art linked to cinema, is in many ways wholly distinct from folk music. Nevertheless, there is considerable mutual influence and interaction between the two genres. Many music directors have used folk song melodies as bases for film songs, whether in Hindi films or regional-language ones. Film influence on folk music is even more conspicuous. Folk musicians in innumerable genres resignify film tunes by setting new texts to them in local languages. Musicians also weave film songs, with their original texts, into various folk genres...." (Peter J. Claus, 2003)

COSMOPOLITAN TOUCH

Hindi film directors have started incorporating various folk songs from different parts of the country thereby giving the Hindi film industry a true cosmopolitan nature. Jayson Beaster-Jones in the book *Bollywood Sounds: The Cosmopolitan Mediations of Hindi Film Song*, writes, “Folk musics... are musical practices that are associated with particular and identifiable communities, places, festivals, seasons, and/or peoples of India. While also conforming to certain musical conventions, the rules governing folk musics are more flexible than those governing classical musics and, taken as a whole, have a much greater degree of heterogeneity than classical musics. Although they are associated with the Punjab region of India and Pakistan, and the garba ras and dandiya ras of Gujrat. Hindi film music directors have often incorporated folk song forms from the Indian states of Assam, Uttar Pradesh, Bihar, and Kashmir, and these folk styles are an important staple for regional language films (e.g., Punjabi, Bhojpuri, etc.).” (Beaster-Jones, 2015)

The use of traditional music in films gives a sense of belonging to our culture. Michael Lawrence in the book ‘*The International Film Musical*’ writes, “Hindi films’ continuity with indigenous classical and folk musical traditions was of central importance for the cinema’s successful national address and popular appeal in the 1940s and 1950s” (Lawrence, 2012). Quoting Alison Arnold in the book he writes, “the use of traditional musical aesthetics in classical Hindi cinema ‘imparted... a sense of “belonging” to the Indian film audience’ and the film song ‘reinforced a sense of “Indianness” through the subcontinent’.” (Lawrence, 2012)

Bhupen Hazarika is one of the popular singers from Assam. He gave his voice for the timeless classic numbers like *Dil hoom hoom kare*, *Samay o dhire chalo* and *Maula o maula* for the film *Rudali*. Commenting on the use of folk music in the film *Rudali*, Indubala Singh in the book ‘*Gender Relations and Cultural Ideology in Indian Cinema*’ writes, “Lajmi very effectively creates the ambience to set the tone of promised romance in the rich folk tunes and songs of Rajasthan through the sonorous music of Bhupen Hazarika’s music. The trend of basing film music on folk songs reappears with fresh sounds and vigour. That is the strength of folk melodies of any culture in the world... People have started recognizing the melodies of different regions, and their cultural images. The backdrop of beautifully filmed Rajasthan with its portions of vibrant and rich landscapes and colourful location lends a very contrasting aura to Sainchari’s sterile life.” (Singh, 2007)

Gulzar, in his article ‘*Play on ... The Music*’, in the book ‘*Bollywood: Popular Indian Cinema*’, edited by Lalit Mohan Joshi, writes, “In fact Hindi film music has played a significant role in the integration of folk music in India. Cinema has brought folk music from different regions into the mainstream. Culturally and musically, every region has a very distinctive style of its own. Punjab, for example,

stands out for its Bhangra (Punjabi folk dance) numbers. This style has a fast beat and is full of energy. It is generally performed along with a community dance, especially during harvest time. Gidra and Kikli are the other two styles, which are feminine in character, though males also participate. In some of the recent films of Yash Chopra, these have been considerably utilized.... Raj Kapoor's film *Jagte Raho* (1956) had a Bhangra number – 'Main koi jhooth boliya' (Have I told a lie?) –which ruled the pop charts....Goa is identified by its Konkani culture, with a dominant Portuguese influence resulting from a four-hundred-year colonization. Songs of the Goan fisher-folk have a distinct style. These songs appear recurrently in a number of Hindi films that have Mumbai and the sea as the background. Raj Kapoor has used them effectively in *Bobby* (1973)... The 'boatman's songs' of the East are also famous, and are called Bhaatiyali songs in the colloquial language of that region. S.D. Burman's *O re Manjhi* (O Boatman!), from the film *Sujata* (1959), is a memorable example. Again, in *Bandini* (1963), the composer used two more songs in the Bhaatiyali style – *O re manjhi le chal paar...* (O boatman, take me across...) and *O jaanewale ho sake to laut ke aana...* (O traveller, do return if you can...)... The Rajasthani folk songs have been very beautifully rendered by the 'Queen of Melody', Lata Mangeshkar, in films like *Lekin* (1991) and *Rudaali* (1993). These are the timeless numbers of Indian film music... Gujarat and Maharashtra have made an ample contribution to the mainstream with their folk songs and sound styles. Their musical instruments also hold an important distinction. The Dandiya numbers are known for their swaying style of composition and colourful dances." (Gulzar, 2002) He continues, "Hailing from the state of Tripura, the genius of S.D. Burman provided the richest of folk music from the eastern region. Hemant Kumar, in Rabindra Sangeet (Tagorean music), made magic with his voice. Still, Salil Chowdhury probably represented the best of east and west fusion, being fluent in both. He adapted Russian, Polish and other East European folk music for Indian films such as *Do Bigha Zamin* and *Madhumati* (1958)." (Gulzar, 2002)

Since the films used to be set in villages, most of the songs used work culture or local festival as a backdrop for the song. Alison Arnold in the book *The Concise Garland Encyclopaedia of World Music* observes, "India's regional music traditions provide film composers with a wealth of material from which to draw inspiration for film folk songs, from festival and seasonal music to lifecycle and work songs. Many Indian films include rural scenes with costumed groups performing choreographed song-and-dance numbers; some composers choose styles from particular areas, others create generic "village" music. Film folk songs are generally rhythmic in character and in a moderate to fast tempo. They have a refrain-verse structure and a syllabic text setting, and are sung by a single- or mixed-gender playback chorus. (Arnold, 2008)

AUTHENTIC RENDITIONS

The use of folk songs gives not only an Indian touch but also helps in making the settings look authentic to the viewers. Since these songs are rooted in Indian tradition, they get popular easily among the masses. Natalie Sarrazin in the article ‘Global Masala: Digital Identities and Aesthetic Trajectories in Post-Liberalized Indian Film Music’ writes, “Folk song styles, a staple in the filmi soundtrack, re-emerged as an essential element, capable of satisfying identity and longing. Malayalam vocals in Rehman’s ‘Jiya Jale’ [“My Heart Burns Up”] from *Dil se* (1998), and Rajasthan’s Langa-Manganiyar inspired “Nimbura” [“Little Lemon”] in music director Ismail Darbar’s score for the groundbreaking 1999 production *Hum Dil De Chuke Sanam*, among others, provided audiences with re-envisioned folk timbres, styles, and instruments to fulfil nationalist desires through a celebration of the motherland’s folk music offerings... Films such as *Paheli* (2005), based in Rajasthani folklore, and *Lagaan* (2001), a period film located in Gujarat, seem to be obvious choices to include folk-inspired songs; the use of folk was widespread and used in romantic comedies such as *Bunty aur Babli* (2005), the soundtrack of which relied heavily on regional folk roots... The soundtrack for *Bunty aur Babli* is a loosely coherent pastiche of “folk item numbers,” with the “folk feel” accomplished with a nod to authenticate folk tala and raga references, but primarily concerned with instrumentation and playback singing timber” (Sarrazin, 2014). She cites an example of the song “Dhadak, Dhadak” -[“The Train Clatters”] where the protagonists escape from their villages in Bihar to Mumbai- and says, “The song exhibits a vague, general folk-song feel on top of an onomatopoeic train-track rhythm. The scene’s visuals and the song’s lyrics make explicit the small town/village character implied by the music. The folk style of the song, loosely representing Bhojpuri folk music, is expanded to imply a folk mood writ large – creating a character of rustic, rural, and “pure” India as it introduces a particular small-town feel of the hero and heroine to the audience.” (Sarrazin, 2014)

Natalie continues to write, “These re-imagined folk numbers reflected new dimensions of authenticity as standardized arrangements and timbres of folk songs or filmi folk were replaced by more authentic renditions. The songs “Genda Phool” [Marigold Flower] from *Delhi 6* (2009), a popular Chhattisgarh wedding folk song, and “Madhorama Pencha” [Which Girl Should We Pick], a Punjabi wedding song from Mira Nair’s *Monsoon Wedding* (2001), depict more traditional vocal style and performance practice.... Rahman’s “Genda Phool,” however, places Rekha Bhardwaj’s highly authentic folk vocal performance practice and timber against a female solo/group response over a highly contemporary funk bass and distorted wah-wah synth sound representing the American origins of the hero Abhishek Bachchan. In both cases, folk wedding songs – and their vocal timbre in particular – were used to bring

an authenticity to the picturization, replete with emotional and sub-cultural associations of marriage that could not be garnered from anywhere else.” (Sarrazin, 2014)

CONCLUSION

The use of folk songs in Indian films connected films to the life and the rhythm of common people becoming a vibrant reflection of their culture. They reflected the musical practices of the communities and their festivals. Films gained a new energy by use of folk styles and in turn became part of people’s daily life. They are sung on auspicious occasions, on birthdays, weddings, etc. Cinema is a new medium overtaking the older theatrical rural cultural performances. It created new rhythms – a kind of hybridization. However, filmmakers continue to look up to folk songs to provide authenticity to the auspicious occasions. This is the reason we have songs like Dhol baaje, Nimbura (Hum Dil De Chuke Sanam), Navrai Majhi (English Vinglish), Banno (Tannu Weds Mannu), etc. These songs give not only an Indian touch but also help in making the setting look authentic to the viewers. As these songs are rooted in our culture, they get popular with the audience.

REFERENCES

- [1] Arnold, A. (2008). *The Concise Garland Encyclopedia of World Music* (Vol. 2). (E. Koskoff, Ed.) Routledge.
- [2] Beaster-Jones, J. (2015). *Bollywood Sounds: The Cosmopolitan Mediations of Hindi Film Song*. New York: Oxford.
- [3] Chatterji, S. A. (1999). *The Culture Specific use of Sound in Indian Cinema*. Retrieved from <http://filmsound.org/india/>: <http://filmsound.org/india/>
- [4] Chatterji, S. A. (1999). *The Culture Specific Use of Sound in Indian Cinema*. Retrieved from <http://filmsound.org/india/>: <http://filmsound.org/india/>
- [5] Gulzar. (2002). *Bollywood: Popular Indian cinema*. (L. M. Joshi, Ed.) Dakini Books.
- [6] Kher, R. (n.d.). *Why don't we hear folk songs in Bollywood films nowadays?* Retrieved from bollywood.com: <http://www.bollywood.com/why-dont-we-hear-folk-songs-bollywood-films-nowadays>
- [7] Lawrence, M. (2012). *The International Film Musical*. (L. M. Corey Creekmur, Ed.) Edinburgh, UK: Edinburgh University Press.

- [8] Nivedita. (2016). *Bollywood should use folk music in original form: Rajasthani vocalist*. Retrieved from <http://dailyworld.in>: <http://dailyworld.in/bollywood-should-use-folk-music-in-original-form-rajasthani-vocalist/>
- [9] Peter J. Claus, S. D. (Ed.). (2003). *South Asian Folklore: An Encyclopedia*. New York: Routledge.
- [10] Sarrazin, N. (2014). *More Than Bollywood: Studies in Indian Popular Music*. (B. S. Gregory D. Booth, Ed.) New York: Oxford University Press.
- [11] Singh, I. (2007). *Gender Relations and Cultural Ideology in Indian Cinema*. New Delhi: Deep & Deep Publications Pvt. Ltd.

CINEMA AND GANDHI: ANALYSING THE CORRELATION

Ezra John

Department of Journalism, Kalindi College.

ezrajohn.kalindi@gmail.com

Abstract: *This research paper attempts to focus on how Gandhi and Cinema together contributed towards the birth of a nation. Both worked individually towards uniting the country by infusing nationalist fervour. It further explores the relationship between Gandhi and Cinema to understand how did they impact each other? Cinema as a tool not only proved to be an inspirational agent but also contributed towards strengthening the cause for independence. But, somehow, Gandhi never gave the recognition it deserved as he never preferred watching cinema. Despite being averse to it, cinema always portrayed Gandhi as an idealist and a national hero whose presence in cinema could alone validate its existence and acceptance in the society. Indian cinema, thus, always stood for uniting the nation and its people by spreading the aura of Mahatma. Undoubtedly, cinema played a pivotal role in carrying his legacy and philosophy which has permeated into our very thoughts and act even today.*

Keywords: *Cinema, Gandhi, Khwaja Ahmed Abbas, Lenin, Nation.*

CURTAIN-RAISER: UNDERSTANDING THE MEDIUM

The Indian film industry being largest in the world, with an average of nearly 1500 to 2000 films produced each year, has a huge mass appeal and popularity in India and abroad. The stories it narrate are mostly from the grass-roots which are woven around the lives of common and simple people. In the era of globalization and digitalization, the power and reach of cinema is unpredictably boundless. It has shaped and expressed the changing scenarios of modern India to an extent that probably no preceding art form could ever achieve. Cinema is one of the most important and powerful social institutions of today's time. In India, the importance and impact of cinema is basically related with society. Thus, Cinema not only reflects culture rather it shapes it too. Cinema is a medium of mass culture and the most important and universal art form of the twentieth century. More than any other art form, it has the power to entertain, educate and shape our sense of what we understand of the world in which we live. Due to this reason it can be said that cinema is linked to the fate of the nation and its perception (Gokulsing & Dissanaya, 2004). The potential of cinema being a tool of social reform has helped the art to evolve and support the society. Films have mirrored the society since its inception. Similarly, Indian Cinema (Hindi and other regional cinemas alike) has also reflected the socio-political changing scenarios.

Indian cinema in its initial stages was closer to mythological themes. Phalke was overwhelmed and inspired by the screening of 'The Life of Christ'. He thought if Jesus could be a valid subject of films in the West, then the innumerable adventures of the Hindu Gods and Goddesses could provide an inexhaustible material. This inspired him to present 'Raja Harish Chandra' before the Indian audiences (a story of a mythical king of Ayodhya). This certainly gave the Indian Cinema a cultural content but a unique characteristic feature still seemed to be missing. Unfortunately, the Indian cinema could never attain this unique characteristic feature which defined its art globally, unlike the cinematic art forms of the Russians, Germans and Italians. In the history of film movement, three schools contributed and defined the film art aesthetically. The Soviet Socialists, the German Expressionists and the Italian Neo-Realists contributed significantly to the language of world cinema. Their contribution to the film art has been philosophical and poetical, enriching the aesthetics with technique. The impact was not limited to their own cinema but it also influenced the cinema of other nations.

The *Soviet Cinema* was re-defined in the post-Bolshevik Revolution. Socialist government led by Lenin observed cinema as an art of service to the mankind. Soviet cinema, a socialist art form, was now considered to be a tool to reach out to the masses. The reason was obvious, USSR at that point of time was an agrarian society with a considerably low literacy rate across the region. The Soviet film-makers formulated the concept of montage to develop an expressive form. They created meaning through editing by juxtaposing images which was unlike the American style of film editing. The *German Expressionist Cinema* was born from the aftermath of World War I and the humiliation of Treaty of Versailles. The bankruptcy of a nation and its resources gave rise to the existential angst of Germany. This became evident in the German cinema with some prominent characteristic features like gothic makeup and clothing for actors, exaggerated theatrical movements of the actors, low-key lighting used to create a dark world with horror and uncertainty. Whereas, the *Italian Neo-Realists* borrowed authenticity from the documentary style to narrate their stories, characters and situations. Authenticity was achieved by casting non-actors in non-glamorous roles and actual location shoots narrating believable stories. Films from Iran, China and India have been distinctly influenced by the Italian neo-realism.

Cinema has, thus, always been a reflection of the mores and outlook of any society at a certain period. The mediums to accentuate this reflection varied from costumes to music and dialogues to mise-en-scene; but the most crucial medium became the characters. The mind-set, thinking, apprehensions or the prejudices of the characters were the same as those of the general public. Satyajit Ray believed that the Indian film industry needed a style, an idiom, a sort of iconography of cinema, which would be uniquely

and recognizably Indian similar to the Soviet, German and Italian cinema and without which it would dilute soon. Thus, cinema with a nationalist character and patriotic theme became the defining characteristic feature for the Indian Cinema.

GANDHI'S UNDERSTANDING OF CINEMA

In context of the Indian Cinema, Gandhi can be seen as an inspiration who not only became a popular subject for Cinema in India and abroad but his teachings too turned out to be a relevant message for contemporary films like *Lage Raho Munna Bhai* (2006) and *Gandhi, My Father* (2007).

“Dedi humein azaadi bina kharak bina dhal, Sabarmati ke sant tunne kar diya kamaal.

Andhiyon mein bhi jalti rahi Gandhi teri mashaal, Sabarmati ke sant tunne kar diya kamaal.”

(Verse from a song of the film 'Jagriti', 1954)

This song by Kavi Pradeep was the first tribute on celluloid to Mahatma Gandhi, six years after his assassination on 30th January, 1948. It is surprising to note that no effort was made in those early years to chronicle his life in Indian cinema. Ironically, the earliest chronicles were made by filmmakers from the West. The first film, *Nine Hours To Rama* (1963), was produced by Mark Robson, a Canadian, who based his film on the book by Stanley Wolpert. The most popular depiction of Gandhi till date has been in the film of Richard Attenborough in 1982 which won him numerous accolades. Several critics remark that the flaw was in the film industry as it always tried to be a commercial venture. Even Gandhi gave his opinion on cinema in an interview to a lady editor of a Bombay journal for a message on the occasion of the Indian Motion Picture Congress where he stated, "Even if I was so minded, I should be unfit to answer your questionnaire, as I have never been to a cinema. But even to an outsider, the evil that it has done and is doing is patent. The good, if it has done any at all, remains to be proved." Gandhi not only considered the influence of cinema as “evil” but also seemed to be skeptical of its future prospects. In fact, why just the Gandhi, if purists are to be believed, cinema died several times over in its 120 years of existence. From Louis Lumiere declaring in 1895 that the cinema is an invention with no future, to Susan Sontag's disgust over the 'decay of cinema' to Quentin Tarantino's declaration that CGI will be the death-knell of cinema, it has survived many fatalistic prophecies.

Khwaja Ahmed Abbas, leftist writer and filmmaker, after learning Gandhi's opinion on cinema responded, “I have no knowledge of how you came to have such a poor opinion of the cinema. I don't know even if you have ever cared to see a motion picture. I can only imagine that rushing from one political meeting to another, you chanced to catch a glimpse of some lewd cinema posters that disfigure

the city walls and concluded that all the films are evil and that the cinema is a playhouse of the devil...”. Ironically, Mahatma Gandhi remained a popular figure for years but he himself just saw one film in his life which was 'Ram Rajya' (1943). Gandhi's detachment to cinema and his aversion to the art became a reason why people believed cinema as evil. Films were liked by all but the industry, in particular, was looked down upon by the masses since its inception and Gandhi, in fact, only reinforced the notion.

Abbas on the occasion of Indian film industry's silver jubilee year in 1939 wrote a letter to Mahatma Gandhi. In this letter he made an impassioned plea to Gandhi during the World War II. Abbas wrote. “I crave your forgiveness for intruding upon your time at a moment when greater issues of war and peace claim your undivided attention. But, war or no war, the unceasing now of life must go on in all its numerous channels. Even under shellfire men must love and be loved, make friends and seek comradeship, laugh and make others laugh, entertain and be entertained.” In response to Gandhi's opinion on cinema in the journal, Abbas further wrote, “But in view of the great position you hold in this country and, I may say in the world, even the slightest expression of your opinion carries much weight with millions of people. I have no doubt that a large number of conservative and orthodox persons in the country will be confirmed in their hostile attitude towards the cinema after reading your statement.” It becomes evident that Gandhi despised cinema as a tool of much importance to promote the struggle for freedom and rather relied on the print news media for circulating his ideas. On one side, Gandhi disapproved to accept cinema as a credible medium and disassociated himself from it after his interview due to lack of interest in the medium, whereas on the other, cinema choose Gandhi as its subject for gaining its loosing popularity among the masses. One can't deny the possibility of it being a well-thought approach by the film industry to use him as the mascot in time of dire crisis.

GANDHI & CINEMA: A REFLECTION OF DRONA-EKLAVYA

Gandhi's influence on the nation and cinema was predominantly seen as secular and inspirational. It can't be a mere co-incidence that as Gandhi's sabhas began with prayers and hymns to promote and support humanity and oneness, so were the ninety-one films, produced during the year 1913 to 1922, had strong essence of *Puranic* folklore. Gandhi spoke of secularism and held equal faith in the Quran and the Bible. He stayed at a Muslim's home in Kolkata and in a Harijan's home in Delhi to send a clear message to his followers on brotherhood and casteism. He preached the concept of one religion which was humanity. Films of those times, too, spoke of humanity and oneness. Interestingly, a dominant shift from

mythological genre to films promoting nationalist fervor became a noticeable feature in Bombay cinema. Majority of films reflected what Gandhi preached. *Ekta* (1942) by J.B.H. Wadia was a plea for Hindu-Muslim unity. *Achhut Kanya* (1936) under the banner of Bombay Talkies narrated a tragic tale of a Harijan girl's love for a Brahmin boy. *Achhut Kanya* delved into a situation which India faced, a situation with which the nation struggled, the 'Class Structure'. In fact, the film so moved Nehru that he wrote a fan letter to Devika Rani requesting for an interview. Gandhi believed in calling the untouchables as *Harijans* to overcome the stigma they bore, whereas, Ambedkar advocated the idea of class struggle for the emancipation of oppressed section of society. It is evident that both the leaders understood their plight and supported the cause of equal rights for *Harijans*.

Indian cinema's projection of national integrity was based on the concept of unity and oneness among all citizens. The divides on the basis of class, caste, creed etc. was vehemently discouraged by the nationalist leaders and cinema alike. *Neecha Nagar* (1946) shot with an expressionist tone reflected the early socialist influence of IPTA (Indian People's Theatre Association). Film-makers specifically associated with IPTA and later with the New Wave cinema focussed on social dramas and disregarded imposed morality. Soon a change was witnessed – a change which formed the true character of Indian cinema as dreamed by Satyajit Ray. Chetan Anand in his directorial debut dealt with the economic inequality. It portrays the two worlds at two extremes, similar to Fritz Lang's representation in his master-piece – 'Metropolis', Ooncha Nagar inhabited by the elites and the Neecha Nagar, the land of the penurious. The struggle between the two classes arose when a drain is diverted to the settlement of the poor. A scene showing the sewage - filled water contaminated by the industries gushing inside the Neecha Nagar was a symbolic representation of the oppression. The film beautifully evokes workers' power within the nationalist struggle. It did put-forth the idea of Gandhian and Marxist ideologies. Chetan Anand sketched the characteristic of his protagonist as one who uses non-violence at the time of resistance and presented the idea of unity within the working class against fascism. In 1921, Dwarkadas Sampat played the role of Vidura under the directorial guidance of Kanjibhai Rathod in the film *Bhakta Vidur*. The film drew reference from Mahabharata but the character of *Vidur* which resembled Gandhi was reportedly portrayed so to support his cause of non co-operation movement. The character dressed like Gandhi ji and even his walk was identical. The film was the first to be banned in India for the sole reason that it portrayed his personality. Censor Board restricted the screening of the film with a report stating that "We know what you are doing, it is not Vidur, it is Gandhi, we won't allow it." It reasoned with another statement, "It is likely to excite dissatisfaction against the government and incite people to non-co-operation".

Films during the pre-independence period were made on two broad subjects. First was a genre of films which infused the feeling of unity and nationalism and second were films based on social themes which aimed at strengthening the social fabric of the nation. The class divide and social evils were the main hurdles before the national leaders who wanted to bridge the gap amongst Indians. Cinema, thus, proved to be a useful agent to transform the moribund ideas into liberal thoughts. The film which evoked the sense of unity among the Indian audiences was *Dharti Mata* (New Theatres; 1938) which promoted the idea of collective farming. *Savkari Pash* (1925) was the first film to deal with the exploitation of Indian peasantry by the moneylenders. *Balayogini* (1936) in Tamil language protested the ill treatment of child widows in orthodox Brahmin society. *Seva Sadanam* (Tamil, 1938), from Munshi Premchand's novel, *Bazaar-e-Husn*, dealt with rehabilitation of the fallen women. In the very next year V. Shantaram made two films *Manoos* and *Aadmi* which showed that the society would never permit a prostitute to have a normal marital life. P.C. Barua in his film *Adhikar* (New Theatre; 1938) pleaded for women empowerment. Sumangali (Telugu, 1940), for instance, justified the initiative of widow remarriage. Bimal Roy's (1953) *Do Bigha Zamin* dealt with issues like socio-economic sufferings of small farmers and rural urban migration of unskilled labourers and his 1959 film *Sujata* argued against the taboo of 'caste system' and 'untouchability'. Apart from questioning the social structure, films also supported the idea of rehabilitation and resettlement of *Harijan* women in a Telugu film - *Malli Pelli* (1939). Achhut (1940) brought the attention of everyone on the practice of human scavenging. It was based on the upliftment of women who carry head-loads of night soil. Another film in Tamil was *Seva Sadanam* (1938) which dealt with the rehabilitation of the fallen women. With these films as a precursor, Guru Dutt's masterpiece *Kaagaz Ke Phool* (1959) introduced the issues like loneliness and social pressure to maintain an unhappy marriage. Raj Kapoor's 1955 film *Shree 420* was based on unemployment, urban poverty and corruption. Guru Dutt's 1957 film *Pyaasa* evolved around the love between a poet and a prostitute – which was a rebellious theme against existing social taboos. Hrishikesh Mukherjee's *Anuradha* (Love of Anuradha, 1960) was about the right of women's economic independence, *Satyakam* (Satyakam, 1969) discussed corruption, rape and professional and moral ethics, *Abhimann* (Pride, 1973) dealt with issues like career conflict between husband and wife and separation. Films dealing with social issues were widespread during the period from 1970s to 1990s.

HOW LENIN SAW THE 'GLASS HALF FULL'

Contrary to what Gandhi believed about cinema, Lenin, the representative of the proletariat and one of the powerful figures of the time, opined that an art as a medium of communication which was destined

to become an active social agent, which had the potential to shape reality directly. The artistic method of socialist realism adopted in the 1930s was not intended to represent reality, but rather to incorporate an idea. The original definition of the method determined that the artists must show life in its development and forward movement, and accept the active revolutionary transformative role of the arts. Soviet artists were supposed to create, consolidate and glorify the new social order, and reincarnate the spirit of Soviet society. According to Clara Zetkin's *My Recollections of Lenin*, the Soviet leader offered the following discourse on art:

“... our opinion on art is not the important thing. Nor is it much consequence what art means to a few hundred or even thousand out of a population counted by millions. Art belongs to the people. Its roots should be deeply implanted in the very thick of the labouring masses. It should be understood and loved by these masses. It must unite and elevate their feelings, thoughts and will. It must stir to activity and develop the art instincts within them. Should we serve exquisite sweet cake to a small minority while the worker and peasant masses are in need of black bread?”

‘Accessibility’ was a common theme in Soviet discourse on the arts. Political propaganda constantly reiterated Lenin’s formula that ‘art must be comprehensible for the masses of people’ (Clara Zetkin, 1934, in her memoirs). Lenin contended that ‘genuine art is one expressed so clearly, that it is perceivable for everybody. To identify the objectives of young soviet film industry, Lenin proposed to make propagandist, informative and entertaining films in correct proportion. According to Lenin, the difference between 'Performative' (constructed) and 'Realistic' art should be well defined and evident. He believed that the rights of the labourers and farmers are more important than entertainment (performative art). It is they who hold and deserve the right over this rich and great art form. Thus, the intellectuals and the educated class should work towards their emancipation by solving the problems faced by them. They will contribute towards the Proletarian Revolution only after they understand and resolve the problems of labourers and farmers. The development in all aspects of social reality is determined, in the final analysis, by the self-development of material production... Art, like law or the state, for example, has no independent history, i.e., outside the brains of ideologists. In reality, literature and art are conditioned by the entire historical development of society.

DENOUEMENT

Similarly Indian cinema, since its inception, has concentrated on various subjects highlighting the problems, complexities and the various aspects of the Indian society in general. Cinema before independence was involved in showing the issues of freedom struggle directly or indirectly. Debaki

Bose's *Inquilab* (1935) was one of the first political films which took up the cause of Indian independence strongly. Similarly, Sohrab Modi's *Sikandar* (1941) used Alexander's invasion of Sindh to arouse the urge for freedom from the British rule in India. Bimal Roy's *Humrahi* (1946) was about life in post-second world war in Calcutta. The film used "Jana Gana Mana" before it became India's national anthem. Films also addressed issues those were important in the making of constitution. Issues like rights over community, the autonomy of the individual, and the right of a woman as free agents etc. Such subjects have created ripples in the past and have got acknowledgement for several Indian films and notable filmmakers throughout the world. Cinema, seen in a positive light, is a powerful medium but only when used constructively. Unfortunately, the apprehensions of several philosophers and critical thinkers regarding cinema's effect on the masses gave it a stumbling start. No doubt, leaders like Hitler used cinema as propagandist machinery but he also used it to reunite his disintegrated army and disheartened countrymen in the post war Germany. Films like *Olympia* and *Triumph of the Will* can be seen as propagandist work which reunited and regained confidence in Germans. With changing times, the likeness and so have the subjects in films have changed. Cinematic culture in India, like any other form of secularist propaganda to unite its people, can be seen as a mediated form to develop national consciousness. Cinema as a weapon, which cries out to be used, is the best instrument for propaganda [. . .] a propaganda which is accessible to everyone, cuts into the memory and may be made a possible source of revenue (cited in Taylor 1998:35). Stalin was merely echoing Trotsky when he proclaimed in 1924 that "[t]he cinema is the greatest means of mass agitation. The task is to take it into our own hands" (cited in Taylor 1979:64). In Taylor's words, Trotsky felt that, whereas religion had been the opiate of the people in feudal society, and vodka had played a similar role in the capitalist stage of Russia's development, cinema would serve as the great eye-opener for the masses, the liberating educational weapon of a socialist society. (1998:35) Even, Lenin once firmly asserted that "of all the arts for us the most important is cinema". Undoubtedly, Khwaja Ahmed Abbas' efforts to convince Gandhi to support cinema is a milestone in the Indian film history as he didn't hesitate to persuade and make Gandhi realise the power of cinema with his final appeal, "As before, children must rush to their fathers with their problems and their troubles. To whom shall we, the sons of India, go for consolation and guidance but to you — you whom we have come to love and honour like a father? Today, I bring for your scrutiny and approval, a new toy my generation has learnt to play with — the CINEMA!"

REFERENCES

- [1] Chowksey, J. (2012). *Mahatma Gandhi & Cinema*. Mumbai: Morya Arts.

- [2] Gokulsing, K. Moti & Dissanayake W. (2004). *Indian popular cinema - A narrative of cultural change*. Staffordshire: Trentham Books Limited.
- [3] Hoffgen, M. (2009). *Studying German Cinema*. United Kingdom: Auteur Publishing.
- [4] Lifshitz, M. (1938). *The Philosophy of Karl Marx*, Trans. by Ralph B. Winn, ed. by Angel Flores. New York: Critics Group, p. 60.
- [5] Ray, R. (2012). *Wither slumdog millionaire: India's liberalization and development themes in bollywood films*. 17th International Business Research Conference, Toronto, Canada.
- [6] Ray, S. (2000). *My years with Apu*. India: Penguin Books
- [7] Taylor, R. (1979). *The Politics of Soviet Cinema 1917-1929*. Cambridge:Cambridge University Press.
- [8] Taylor, R. & Christie, I. (1988). *The Film Factory: Russian and Soviet Cinema in Documents 1896-1939*. London: Routledge.
- [9] Taylor, R. (1998). *Film Propaganda: Soviet Russia and Nazi Germany*. London: I. B. Tauris.
- [10] Woods, J. (2011). *Visions of Empire and Other Imaginings: Cinema, Ireland and India 1910-1962*. Peter Lang. p. 98.
- [11] Zetkin, C. (1956). *My Recollections of Lenin*. Moscow: Foreign Languages Publishing House, p. 19-20.
- [12] *Kanchi Babu*. Anandabazar Patrika (Rabibasariya). 17 March 2013. (Bengali).
- [13] Naqvi, J. *Did Gandhi hate music, cinema?* Dawn (updated on 22nd December, 2015; 10:34 AM IST). Retrieved from <https://www.dawn.com/news/1227941>
- [14] *Mahatma Gandhi believed cinema to be 'evil'*. News18.com (updated on 2nd October, 2013; 1:46 PM IST). Retrieved from <http://www.news18.com/news/india/mahatma-gandhi-believed-cinema-to-be-evil-642589.html>

Experimental Investigations on Splice Losses in Optical Fibers

Pushpa Bindal, Triranjita Srivastava¹, Kanchan Garg[#] and Shiwangi Puri[#]

Department of Physics, Kalindi College

[#]B.Sc. (H) Physics (Equal Contribution)

¹corresponding author: triranjita@gmail.com

Abstract: The optical fibers have revolutionized the field of telecommunication and are the backbone of the ultrafast internet world due to low loss. Such real fibers are deployed under the sea/oceans in kilometers of length, which are formed by the splicing of the optical fibers. The imperfect splicing results into splice losses, namely; transverse offset, longitudinal offset and angular offset loss, arising due to transverse, longitudinal and angular misalignment at the joint of the optical fibers. In this work, we experimentally studied the modulation in in transmitted intensity with different splice losses in the optical fibers.

Keywords: Optical fiber, Splice Loss.

INTRODUCTION

In real long haul communication link the fiber optic cable are laid down upto ~ few tens of kilometers of length. Therefore, in such telecommunication link, the joints/splices in fiber optic cables cannot be avoided, which gives rise to the loss in the signal [A. Ghatak and K. Thyagarajan (1998)]. These splices are formed by joining two optical fibers, whose end are perfectly prepared. While splicing the fibers, their alignment is very important, else it would lead to transmission loss. The mismatched alignment may be caused due to transverse offset between the fiber ends, separation between the two fiber ends and angular offset between the fiber ends [B. P. Pal (1992)]. In this work, we experimentally investigate the fiber to fiber splice loss arising due to all the three misalignment of the fiber, giving rise to transverse offset, longitudinal offset and angular offset loss.

THEORY

In the following section, we define and discuss the splice losses in the optical fibers which; are of three types (shown in Fig 1):

1. **Transverse offset loss:** In this case, the axes of the core of the two fibers are misaligned. The normalized transverse misalignment factor is defined as:

$$T = \frac{y_{max}-y}{2a} \quad (1)$$

where, y is the transverse offset and y_{max} corresponds to the maximum power reading point and 'a' is the radius of the core of the fiber.

2. **Longitudinal offset loss:** The separation between the two ends of the fibers gives the loss due to longitudinal offset. The normalized longitudinal misalignment factor is defined as:

$$L = \frac{x_{max}-x}{2a} \quad (2)$$

where, x is the longitudinal offset along the axes of the fibers and x_{max} is the maximum power reading point.

3. **Angular offset loss:** The angular mismatch between the ends of the two fibers results into splice loss due to angular offset. The normalized angular misalignment factor is defined as:

$$\alpha = \frac{\theta_{max}-\theta}{\sin^{-1}(NA)} \quad (3)$$

where, θ is the angular offset and θ_{max} is the angular offset for the maximum power reading and NA is the numerical aperture of the given fiber.

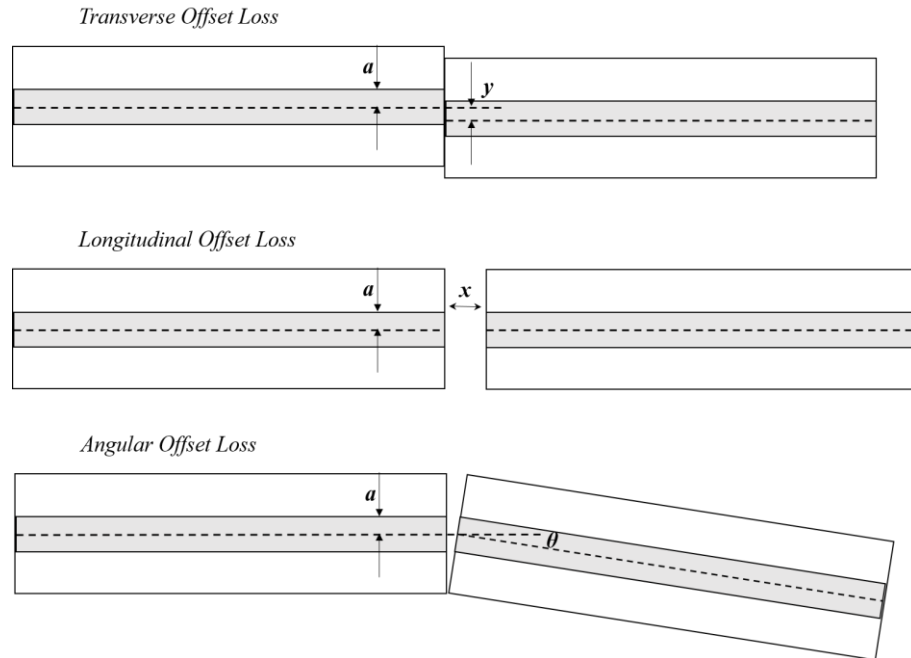


Figure 1. Three types of fiber to fiber splice loss

EXPERIMENTAL SETUP

The experimental setup for the study of splice loss is shown in Fig. 2. The light from a Helium- Neon Laser is launched into a multimode optical fiber of core radius 350 μm and numerical aperture 0.6. This fiber is known as a transmitting fiber [M. R. Shenoy et al. (2011)]. Another identical fiber, known as receiving fiber is mounted on the $xyz\theta$ translation stage, which is perfectly aligned with respect to the output end of the transmitting fiber, such that it transmits maximum intensity. Now, the input end of the receiving fiber is displaced (as per Fig. 1) to measure the splice loss.

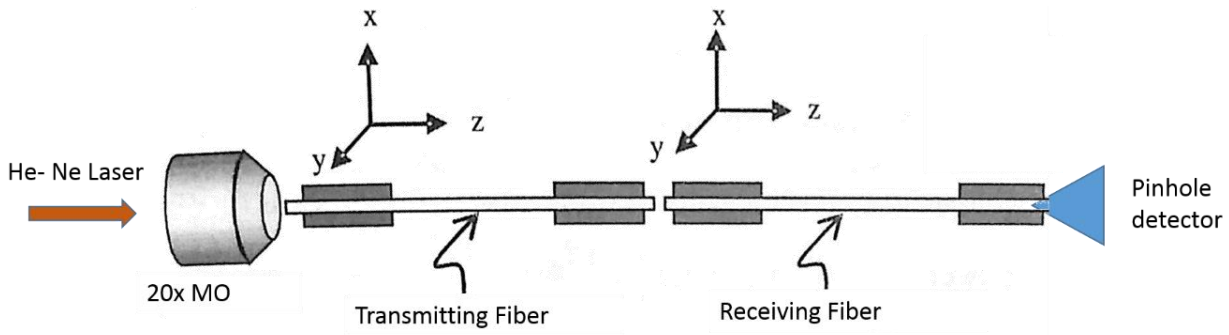


Figure 2. Experimental setup to study splice loss in optical fiber

The splice loss for all the three cases is defined as [A. Ghatak and K. Thyagarajan (1998)]

$$Loss = 10 \log_{10} \frac{I_{max}}{I} \quad (4)$$

where ' I ' is the intensity measured at the output end and I_{max} is the maximum intensity.

RESULTS AND DISCUSSION

In this paper, we study the splice losses for the fiber of core radius 350 μm and numerical aperture 0.6. Figure 3, 4 and 5, illustrate the variation of transverse offset loss, longitudinal offset loss and angular offset loss, respectively as a function of their corresponding normalized misalignment factors.

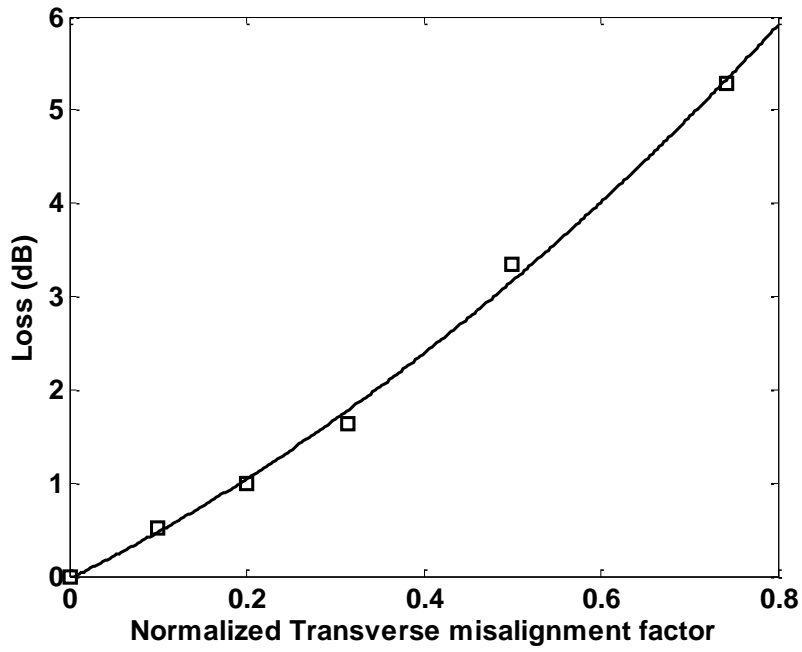


Figure 3. Variation of splice loss due to transverse offset with respect to normalized transverse misalignment factor

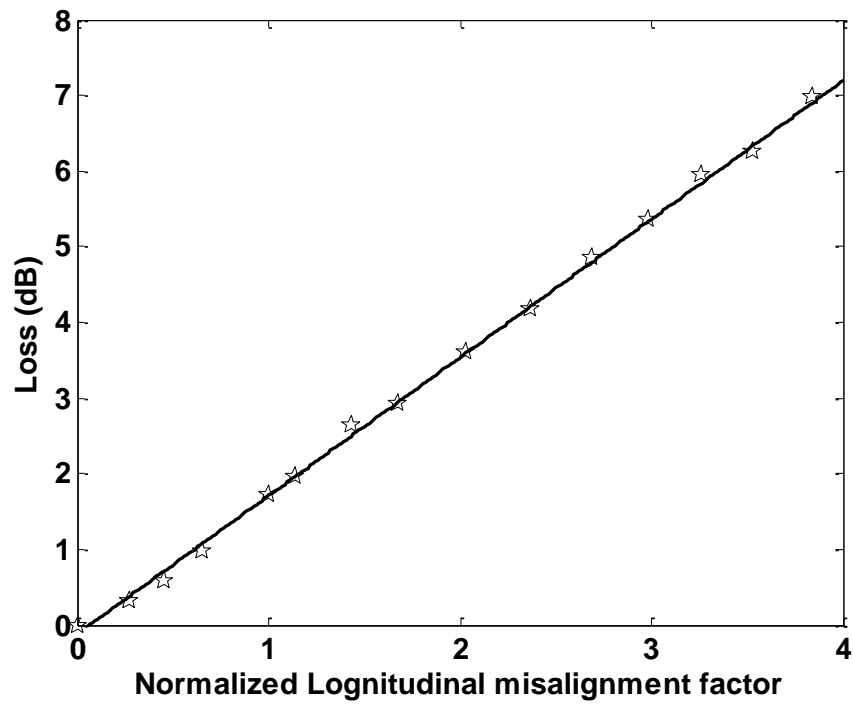


Figure 4. Variation of splice loss due to longitudinal offset with respect to normalized longitudinal misalignment factor

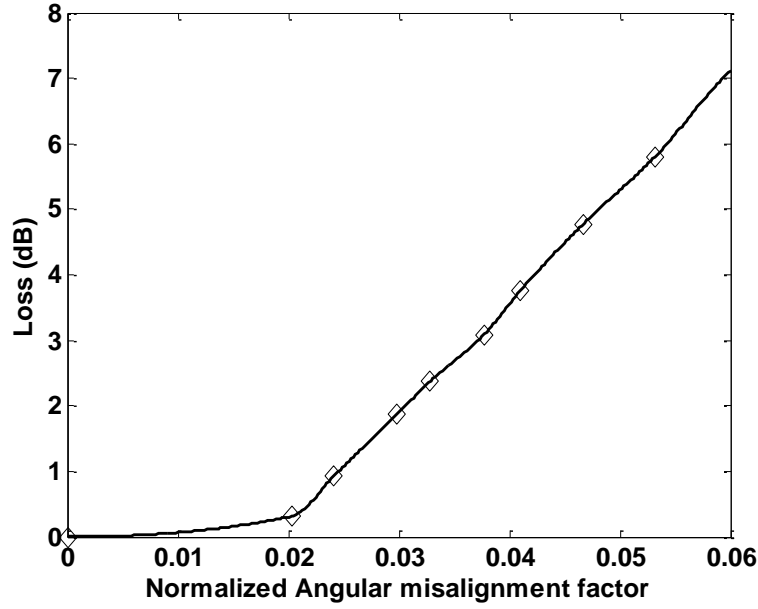


Figure 5. Variation of splice loss due to angular offset with respect to normalized angular misalignment factor

As can be seen from the results shown in Figs. 3, 4 and 5, the splice losses vary almost linearly with their normalized misalignment factors. Fig 3, depicts the linear rise in transverse offset splice loss as a function of normalized transverse misalignment factor. We can clearly see a fall of almost 3 dB in intensity at $\sim 45\%$ transverse offset of the axes of the two fibers. This is due to large core size ($\sim 350\ \mu\text{m}$ radius) of the two identical fibers.

In Fig. 4, since the axes of the two optical fibers remain aligned for increasing longitudinal offset parameter, the losses caused in this type of splice are lesser in comparison the other two cases. The reason is attributed to the fact that the modal fields of the transmitting and receiving fibers remain almost same.

In Fig. 5, we can observe a nominal fall till 2% of the maximum angular offset, since the modal fields of the two fibers still match very well. A further increase in the angular misalignment of the receiving fiber causes a rapid loss of radiation modes and hence, the angular splice loss also increases rapidly in a linear fashion.

CONCLUSIONS

In this work, we studied the different types of splice losses in two identical multimode optical fibers. It is found that the angular splice loss is substantial as compared to the other two. However, all three of them vary linearly with their normalized misalignment factors.

Acknowledgements: The authors would like to acknowledge financial support received from National Academy of Sciences India, Delhi Chapter.

REFERENCES

- [1] A. Ghatak and K. Thyagarajan (1998), “Introduction to Fiber Optics,” Cambridge University Press, Cambridge. Reprinted by Foundation Books, New Delhi (2008).
- [2] A. Ghatak and K. Thyagarajan (1989), “Optical Electronics,” Cambridge University Press, Cambridge.
- [3] B. P. Pal (1992), “Fundamentals of Fiber Optics in Telecommunication and Sensor Systems,” Wiley Eastern, New Delhi.
- [4] M. R. Shenoy, Sunil K. Khijwania, Ajoy Ghatak and Bishnu P. Pal (2011), “Fiber optics through experiments,” Viva Books, New Delhi.

A simple numerical method for study of rectangular core plasmonic waveguides

¹Triranjita Srivastava, Pushpa Bindal, Shatakshi Chamoli[#] and Vaiwaswati Joshi[#]

Department of Physics, Kalindi College

[#]Equal Contribution, B.Sc. (H) Physics

Corresponding Author: ¹triranjita@[gmail.com](mailto:triranjita@gmail.com)

Abstract: *In this study, a simple numerical method, namely effective index method has been employed to obtain the propagation characteristics of a rectangular core plasmonic waveguide comprising of a doped semiconductor material at subwavelength scale. It has been observed that it is possible to obtain highly confined surface plasmon polaritons by varying the width of plasmonic waveguide and these highly confined SPP's can easily be used for waveguidance as well as sensing applications at subwavelength scale.*

Keywords: *Plasmonic Waveguides, Effective Index Method, doped semiconductor.*

INTRODUCTION

Recently, dielectric (polymers and glasses) waveguides, like plastic ribbon planar waveguide, hollow core, solid core, porous core fibers have been proposed in literature, but, they all are subject to diffraction limit and hence, large waveguide dimension prevents its usage in integrated on-chip systems. On the other hand, plasmonic waveguides like metal-wire, metal-slab based on propagation of surface plasmon polariton (SPP) are also proposed, which are known to exhibit subwavelength confinement beyond the diffraction limit at optical frequencies, but at THz such structures support only loosely bound SPP known as Sommerfeld–Zenneck wave [M. Dragomana, et. al. 2008, T. H. Isaac, et al. 2009]. In order to address the issue of feasible existence of SPPs at THz frequencies, researchers have used thin metallic wires and periodically structured surfaces to decrease plasma frequency. However, to avoid complexity in the designs, doped semiconductors like, Indium antimonide (InSb), Indium Gallium Arsenide (InGaAs) etc. have been synthesized which give rise to the possibility of realizing plasmon-like behaviour [T. H. Isaac, et al. 2009, Sung Hyun Nam et al. 2009]. Therefore, the development of THz photonic components is limited by the availability of new materials, guiding mechanisms and device designs.

In this paper, we propose a rectangular core waveguide comprising of InSb at THz frequency. The numerical modeling of the proposed waveguide is performed by Effective Index Method. The results

show that InSb supports highly confined SPP modes, which would open a new platform for waveguidance, as well as sensing applications.

NUMERICAL MODELING

The schematic of the proposed rectangular waveguide of width ‘ w ’ and thickness ‘ t ’ in InSb (dielectric constant ϵ_i) filled with air having dielectric constant ϵ_a is shown in Fig.1. We obtained the propagation characteristics of such waveguide by employing effective index method [Arun Kumar et al., 2008], as discussed below:

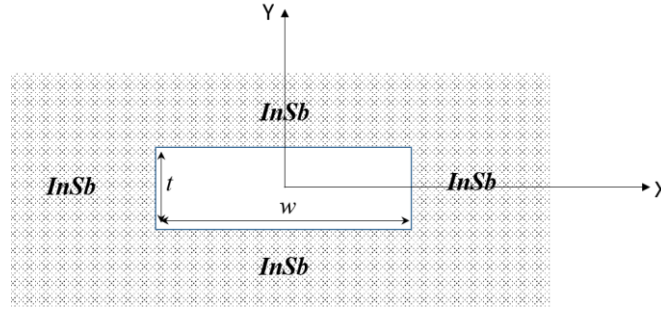


Figure1. Schematic of the rectangular waveguide (width w , thickness t) comprising of air in InSb.

Effective index method

In this work, we studied the propagation characteristics of y-polarized SPP modes. According to the effective index method, the proposed waveguide is resolved into two separate waveguides of dimensions w and t , having refractive index variations along y and x directions, respectively. We first obtain the mode effective index n_{eff1} for SPP mode in InSb/Air/Insb waveguide of width ‘ t ’ by solving following eigen value equation:

$$\tanh\left(\frac{\gamma_a t}{2}\right) = -\frac{\epsilon_a \gamma_i}{\epsilon_i \gamma_a} \quad (1)$$

Where $\gamma_{a,i} = \sqrt{\beta_1^2 - k_0^2 \epsilon_{a,i}}$ and $n_{eff1} = \beta_1 / k_0$, $k_0 = 2\pi/\lambda$ and λ is the operating wavelength. β_1 is the propagation constant of this planar waveguide.

We now form an effective index waveguide InSb/X/InSb of width ‘ w ’. Here the refractive index of ‘X’ layer is n_{eff1} . The mode effective index of the fundamental Transverse Electric mode of this waveguide, gives the effective index n_{eff} for the proposed waveguide (as shown in Fig. 1), which is obtained by solving the following eigen value equation:

$$\tan\left(\frac{\kappa w}{2}\right) = \frac{\gamma}{\kappa} \quad (2)$$

Where $\kappa = \sqrt{k_0^2 n_{eff1}^2 - \beta^2}$, $\gamma = \sqrt{\beta^2 - k_0^2 \epsilon_i}$. β is the propagation constant of the planar waveguide in x direction and hence effectively that of rectangular core waveguide now.

It is to be noted here, that Eq. (1) and (2) are complex, because of the complex nature of the dielectric constant of semiconductors at THz frequencies. We applied modified bisection method [3] to obtain complex n_{eff} . The real part of n_{eff} indicates the mode confinement within the waveguide. Higher the n_{eff} , tighter is the confinement within the core of the waveguide. On the other hand, the imaginary part of n_{eff} depicts the transmission loss of the mode while propagating through the waveguide. This loss, imposes a constraint on the length of the waveguide. Therefore, the length over which the intensity of the mode decays to $1/e$ is defined as propagation length of the mode:

$$L = \frac{1}{2k_0 \text{Imag}(n_{eff})} \quad (3)$$

RESULTS AND DISCUSSION

We obtained the mode effective index of the fundamental mode of the proposed waveguide at the frequency 1 THz. The dielectric constant of *InSb* is $\epsilon_i = -37.8770 + 2.5533i$ at 1 THz. Figure 2 (a) and (b), illustrates the variation of the real part of the mode effective index 'Real (n_{eff})' and the propagation length ' L ' of the fundamental SPP mode as a function of width ' w ' of the waveguide, for ' t ' = 50 μm . It is observed that there exists a cutoff width $w = 120 \mu m$ beyond which the SPP mode gets excited. Moreover, Real (n_{eff}) and L , both increases with increasing ' w '. The reason is attributed to the fact that along y-direction, i.e. waveguide of width ' t ' = 50 μm , the SPP mode is supported, whereas along the width ' w ' of the waveguide, TE mode exists, which has a property that with increasing waveguide dimension the mode confinement increases within the core (air) region of the waveguide. This results into increasing n_{eff} and L . It is to be mentioned here, that the wavelength of operation at 1 THz frequency is $\lambda = 300 \mu m$, and the proposed waveguide is found to support SPP mode at waveguide dimension (50 x 130 μm); much smaller as compared to the wavelength of operation. The propagation length at this dimension is 1125 μm , which is 3 times larger than the wavelength. Thus the proposed waveguide can be used for THz transmission at subwavelength scale, which could lead to miniaturized photonic components.

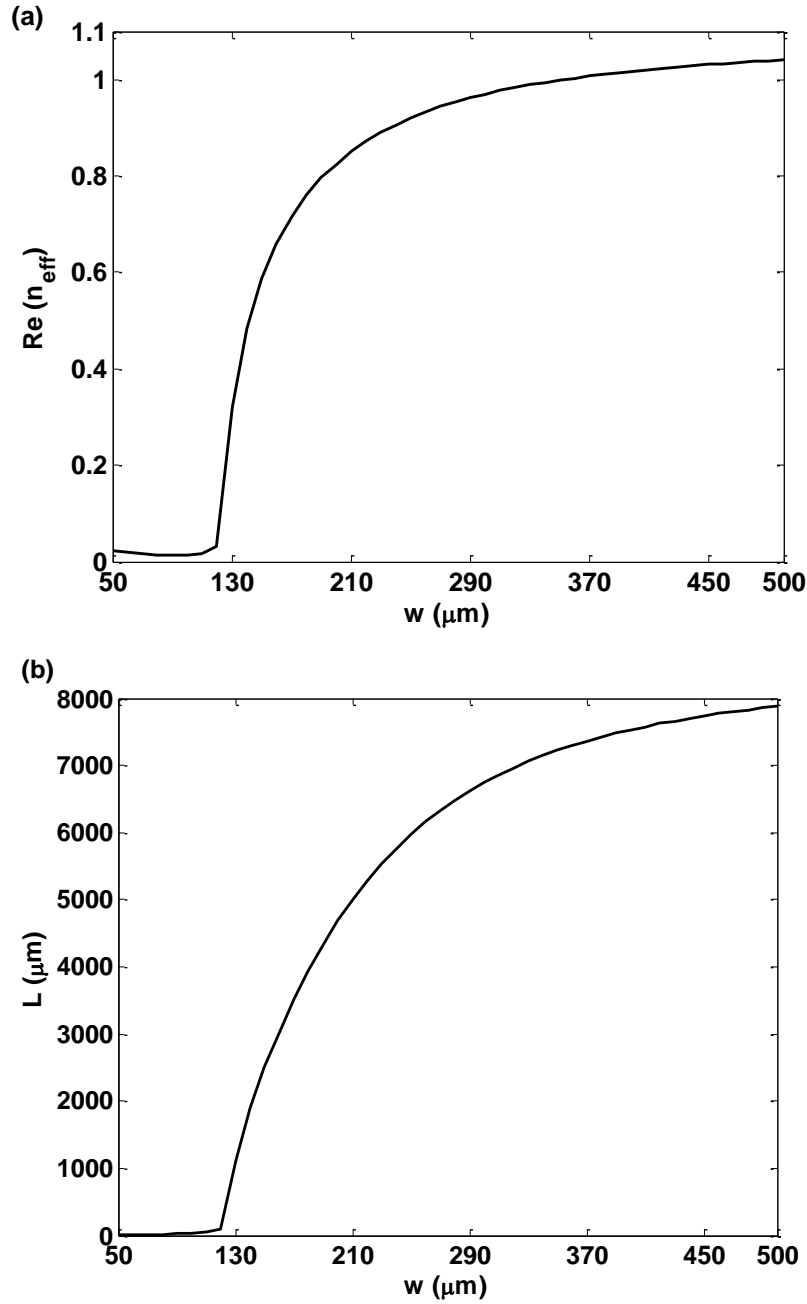


Figure 2: Variation of (a) real part of n_{eff} and (b) propagation length ' L ' with respect to width ' w ' of the rectangular waveguide

Figure 3 (a) and (b), illustrates the variation of Real (n_{eff}) and L of the fundamental SPP mode with respect to the perpendicular dimension of width ' t ' of the waveguide for a fixed ' w ' = 200 μm . It is observed that n_{eff} decreases with increasing ' t ', whereas L shows opposite behavior. As discussed earlier, along the waveguide width ' t ' (InSb/Air/InSb waveguide of width ' t '), fundamental SPP mode is supported. Such mode exhibits weaker confinement within the waveguide, with increasing thickness. This results into decreasing n_{eff} and increasing L with increasing ' w '.

It is observed from Fig 2 (b) and 3(b), that in the proposed waveguide the propagation length of fundamental mode is several times larger than the wavelength of THz radiation, thereby showing low loss and high confinement at the subwavelength dimensions.

The SPP modes are well known for their high sensitivity towards any alteration in the environmental conditions, either by change in temperature or refractive indices. This property will be highly useful for SPP based waveguides in the sensing application.

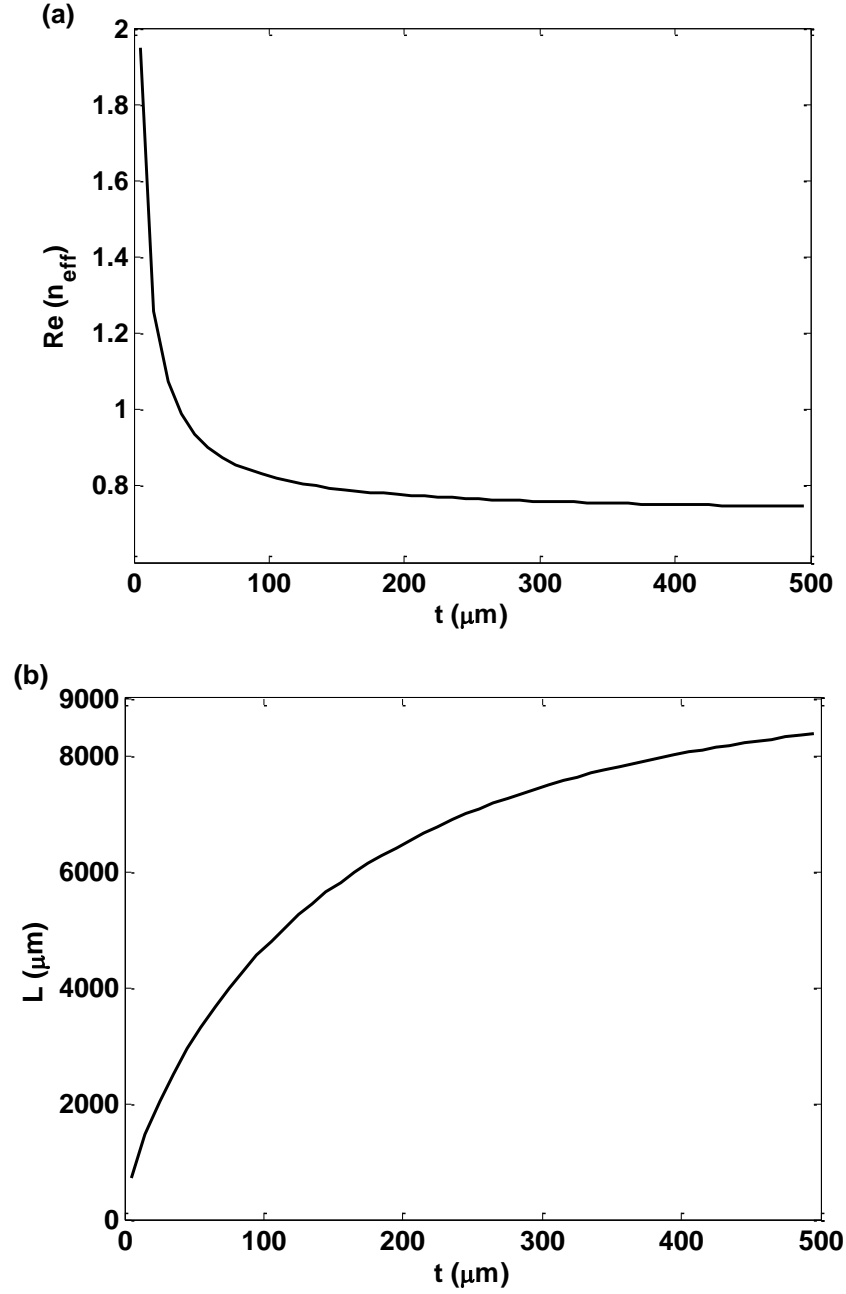


Figure 3: Variation of (a) real part of n_{eff} and (b) propagation length ' L ' with respect to width ' t ' of the rectangular waveguide.

CONCLUSION

In this paper, we proposed and studied the modal characteristics of rectangular core plasmonic waveguide of subwavelength dimensions at THz. The waveguide is composed of doped semiconductor; InSb, which exhibits strong mode confinement along with large propagation length. We believe that the proposed structure would be beneficial in realizing subwavelength guiding structure at THz, which can be utilized for sensing applications as well.

Acknowledgements: The authors would like to acknowledge financial support received from National Academy of Sciences India, Delhi Chapter.

REFERENCES

- [1] M. Dragomana, D. Dragomanb (2008), “Plasmonics: Applications to nanoscale terahertz and optical devices” Progress in Quantum Electronics 32.
- [2] T. H. Isaac, W. L. Barnes, and E. Hendry (2008), “Determining the terahertz optical properties of subwavelength films using semiconductor surface plasmons”, Applied Physics Letters, 93, pp. 241115.
- [3] Sung Hyun Nam, Antoinette J. Taylor, and Anatoly Efimov (2009), “Subwavelength hybrid terahertz waveguides”, Optics Express, **17**, pp. 22890-22897.
- [4] Arun Kumar and Triranjita Srivastava (2008), “On the performance of the effective index method in the modelling of nanoscale rectangular apertures in a real metal”, Optics Communications, **281**, pp. 4526–4529.

Surface Plasmon Resonance Sensor based on Graphene

Triranjita Srivastava¹, Pushpa Bindal, Divita Gautam[#] and Shikha Bajaj[#]

Department of Physics, Kalindi College

[#]B.Sc. (H) Physics (Equal Contribution)

¹corresponding author: triranjita@gmail.com

Abstract: *We propose a surface plasmon resonance sensor based on graphene over aluminum. It is known that the aluminum offers low loss to the surface plasmon waves thereby, exhibiting high detection accuracy. However, aluminum is highly susceptible to oxidation, which reduces the performance of the sensor. In order to overcome this issue, we propose that, graphene can be applied over aluminum, which preserves the properties of the sensor.*

Keywords: *Surface Plasmon Resonance, Sensor, Graphene.*

INTRODUCTION

Surface plasmon modes arising due to coupled oscillations of the coherent plasmons at the metal/dielectric interface are known to be highly sensitive with respect to any alteration in the environmental conditions [J. Homola *et. al.* (1999)]. Such waves have exponentially decaying field in the metal, as well as in the dielectric, which carries the properties of the medium [E. Kretchmann, *et.al.* (1968)]. Recently, the surface plasmon resonance (SPR) based sensors have been known to be highly accurate and sensitive for sensing various parameters such as refractive index, temperature etc. In this work, we propose a SPR based on graphene over a metal for sensing biochemical samples.

DESIGN CONSIDERATIONS

The proposed configuration of the graphene based SPR sensor, is shown in Fig. 1. Transverse magnetically *TM* polarized light from a He-Ne Laser is launched at one face of the prism. The intensity of the reflected light is measured at the other face of prism.

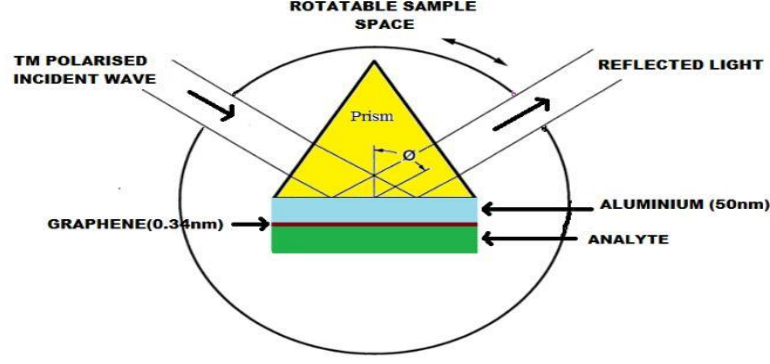


Figure 1. The proposed configuration for the graphene based SPR sensor

It is to be noted that the surface plasmon wave is generated in the metal/graphene/analyte structure, when the resonance condition for the excitation of surface plasmon waves is satisfied. The resonance excitation results in a minimum reflectance at the output. In this work the prism is composed of silicon and the metal is chosen as aluminum, both these materials offer low loss to the surface plasmon waves [L. Wu *et al.* (2010)].

NUMERICAL MODELING

The proposed structure is a multilayer and therefore we used the matrix method to obtain the reflectivity for the incident *TM*-polarized light. The different layers of the sensor constituent materials (n - layers) are assumed to be stacked along the y -axis. The thickness, dielectric constant and refractive index of the layers are taken as d_k , ϵ_k , and n_k , respectively, where $k = 1, 2, \dots, n$. The tangential components of electric and magnetic fields at the first boundary are related to those at the final boundary by following equation [Pradeep Kumar Maharana *et al.*(2013)]:

$$\begin{bmatrix} P_1 \\ Q_1 \end{bmatrix} = M \begin{bmatrix} P_{N-1} \\ Q_{N-1} \end{bmatrix} \quad (1)$$

where P_1 and Q_1 , respectively, are the tangential components of electric and magnetic fields at the boundary of first layer. P_{N-1} and Q_{N-1} are the corresponding fields at the boundary of last n^{th} layer. M is known as characteristic matrix of the considered structure and for *TM*-polarized wave it is given by:

$$M = \prod_{k=2}^{N-1} M_k = \begin{bmatrix} M_{11} & M_{12} \\ M_{21} & M_{22} \end{bmatrix} \quad (2)$$

with

$$M_k = \begin{bmatrix} \cos \beta_k & (-i \sin \beta_k) / q_k \\ -iq_k \sin \beta_k & \cos \beta_k \end{bmatrix} \quad (3)$$

where

$$q_k = \frac{(\epsilon_k - n_1^2 \sin^2 \theta_1)^{1/2}}{\epsilon_k} \quad (4)$$

and

$$\beta_k = \frac{2\pi d_k}{\lambda} (\epsilon_k - n_1^2 \sin^2 \theta_1)^{1/2} \quad (5)$$

where θ_1 is the angle of incidence at the prism-metal interface. Using boundary condition, the reflectance for TM-polarized wave is obtained as

$$R_p = |r|^2 \quad (6)$$

where

$$r = \frac{(M_{11} + M_{12}q_N)q_1 - (M_{21} + M_{22}q_N)}{(M_{11} + M_{12}q_N)q_1 + (M_{21} + M_{22}q_N)} \quad (7)$$

RESULTS AND DISCUSSION

Figure 1 illustrates the variation of reflectance with respect to the angle of incidence for Prism/Al/analyte at the operating wavelength 0.6328 μm , for Al thickness 42 nm and analyte refractive index 1.35. It is observed that the reflectance curve exhibits zero as a minimum value at 20.75° , thereby exhibiting the resonance excitation of the surface plasmon wave. It is to be mentioned here that the aluminum is highly susceptible to oxidation and offers low adsorption towards biomolecules. Therefore, we propose an addition of graphene over the aluminum layer. The graphene is known to offer high adsorption for biomolecules. The thickness of the graphene is given by $t = 0.34L$ (nm), where L is the number of layers and the refractive index is $3.0000 + 1.1491i$.

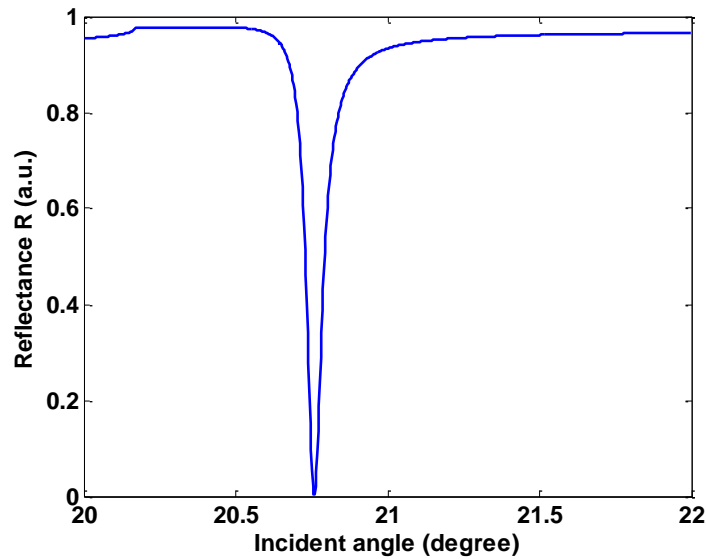


Figure 2. Variation of reflectance with respect the angle of incidence, for Al thickness 42 nm and analyte refractive index 1.35.

Figure 3, illustrates the variation of reflectance as a function of angle of incidence for two configurations; prism/Al/analyte and prism/Al/graphene/analyte at an operating wavelength 0.6328 μm . The analyte refractive index is 1.35. It is found that due to the addition of bilayers of graphene the resonance angle shifts from 20.75° to 20.80° , thereby offering a shift of 0.05° in the resonance angle. It is also observed that the full width at half maxima slightly increases with the addition of graphene, which still offers high detection accuracy.

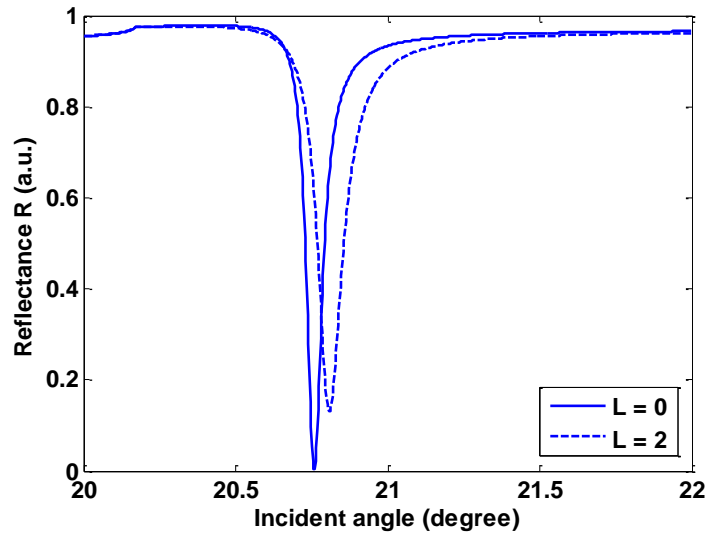


Figure 3. Variation of reflectance with respect to incident angle for graphene layer $L=0$ and $L=2$.

Further, in order to analyze the performance of the proposed sensor, in Fig. 4, we show the variation of reflectance with respect to angle of incidence for analyte refractive index of $n_s = 1.35$ and 1.355. It is observed that the resonance angle shift is 0.086° for the refractive index change of 0.005, thereby giving high sensitivity. It is to be mentioned here that the configuration, without graphene layers also exhibits same resonance angle shift. However, with the addition of graphene one gets rid of oxidation problem of aluminium.

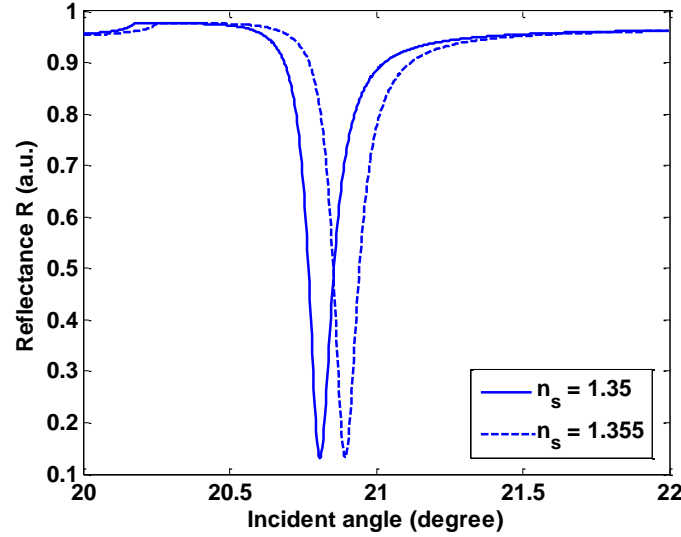


Figure 4. Variation of reflectance with respect to angle of incidence for the proposed sensor comprising of prism/Al/bilayer Graphene/analyte. The analyte refractive index n_s is 1.35 and 1.355.

CONCLUSION

In this work, we proposed a graphene based SPR sensor, which not only addresses the oxidation of aluminum, but also preserves the performance of the sensors (i.e. shift in the resonance angle).

Acknowledgements: The authors would like to acknowledge financial support received from National Academy of Sciences India, Delhi Chapter.

REFERENCES

- [1] J. Homola, S. Yee, and G. Gauglitz (1999), "Surface plasmon resonance sensors: Review," *Sensors Actuat. B*, **54**, pp. 3–15.
- [2] E. Kretschmann and H. Reather (1968), "Radiative decay of non-radiative surface plasmons excited by light," *Z. Naturforsch.*, vol. **23A**, pp. 2135–2136.
- [3] L. Wu, H. S. Chu, W. S. Koh, and E. P. Li (2010), "Highly sensitive graphene biosensors based on surface plasmon resonance," *Opt. Express*, **18**, pp. 14395–14400.
- [4] Pradeep Kumar Maharana, Triranjita Srivastava, and Rajan Jha (2013), "Ultrasensitive Plasmonic Imaging Sensor Based on Graphene and Silicon" *IEEE Photonics Technology Letters*, **25**, pp. 122-125.

Gender discrimination and gaps in India: An incomplete struggle for women empowerment

Anula Maurya^{19*} and Anuradha Maurya²⁰

*Principal, Kalindi College

anulamaurya@yahoo.co.in

Abstract: India can boast of its growth and development only if all its population sections, especially the women are made the equal partners in its socio-economic development. Gender equality, empowerment and gender mainstreaming, thus assume importance as an integral part of the development process. Historically, the struggle against gender discrimination and inequality, described as “Feminism”, began in the west and gradually spread globally. In India, too, this struggle was taken up by the social reformers from time to time, but it generally remained as a subsidiary issue. Even after independence, women’s movements in India could not develop its independent identity nor could they get out of the shackles of men. Patriarchy, poor economic status and biased social mindset and cultural practices remained prevalent. In the age of globalization with shrinking state boundaries and the integration of the virtual world of mobile and internet to the day to day human life, the gender sensitization has also emerged as an important agenda in the global governance process.

This paper, in the background introduced above, critically reviews the gender inequality and women struggle for empowerment over the period along with the conceptual framework related to gender equality in the rapidly changing Indian society. The primary conclusion, among many, highlights that gender inequality and women empowerment cannot be divorced from the socio-economic and political development models; and gender sensitivity has to be incorporated into the decision-making at the policy level and in institutional structures of law and governance to give equal share and space to women in all spheres of life in India. This is the most difficult challenge before India, and political leadership is expected to take the lead.

Keywords: India, Globalization, Growth, Gender Discrimination, Development, Cultural Norms, Political Leadership

INTRODUCTION

India is a fast growing economy with great potential to be the future economic power. But such a growth and development can be of some meaning only if the women, who constitute about half of the population are made the equal partners in the gains so accruing. It is well argued that benefits of modernization and development turnout to be widespread in societies where gender discrimination and

¹⁹Dr. Anula Maurya, Email: anulamaurya@yahoo.co.in; Mobile: 91-9810353171

²⁰Ms. Anuradha Maurya, recently submitted her Ph.D. in Delhi School of Economics, Department of Geography and is associated to University of Delhi.

Email: anuradhamauryadu@gmail.com; Mobile: 91-9810639308

inequality remain under check and are not practiced. Gender equality, empowerment and gender mainstreaming, thus become critical. Hence, the key issue is: women treated equal to their male counterparts and given equal share and space in socio-economic, political and cultural spheres worldwide.

Historically, the struggle against gender discrimination and inequality described as “Feminism”, began in the west and gradually spread out globally. In India, although this struggle was taken up by the social reformers from time to time, but it generally remained as a supplementary issue. In the 20th century, during the struggle for freedom social reforms for empowering the women became crucial. But even after independence, women’s movement in India could not develop its independent identity.

The 21st century India shows the struggle for women empowerment strengthened and reached at grass root levels. The conceptual framework related to gender equality and discrimination, sex and gender has become more specific and defined. In a global perspective, particularly in developing world the women earn less than men, and are at disadvantageous position with respect to education, health, and the bargaining power within marriage. Indian families often prefer boys than girls, and female foeticide is tragically common. United Nations Development Report 2013 points out that 200 women in India died for every 100,000 child births as against 37 deaths in China and 21 in the U.S.

In spite of significant constitutional commitments and advances, the status and position of women in India continues to be heavily skewed against men. For instance, women MPs in Indian Lok Sabha is only about 11% against 89% men. The participation rate is almost one third of males and shows discouraging signs during globalization periods. Even the literacy rate is far below, 65% as against 82% for men. Only about 27% women above 25 years received a secondary education in 2010, compared to 50% of menⁱ. Gender discrimination continues to be common across states and is an integral aspect of India’s structural and cultural violence. Although the role of women and their power vary across states, women have yet to gain full equality in any state. It needs to be stressed that gender inequality in poor countries like India not simply exclude women from basic socio-economic opportunities, but such practices endanger the life prospects of future generations, too. In such a situation, measuring the extent of interpersonal disparities in well-being among women and men across states assumes critical importance. It is in this background, this paper is conceived. After a brief review of the gender related historical background of struggle against gender discrimination, it specially reviews how the gender gaps are inbuilt in the Indian society through its cultural beliefs as reflected in son preference and interpersonal disparities in wellbeing across states. It further brings out the root causes of gender discrimination and

inequality as observed in health, education, personal autonomy in the background of underdevelopment and cultural setting. It is followed by how globalization is likely to affect gender inequality in India.

GENDER DISCRIMINATION: HISTORICAL STRUGGLE AND MEANING

In early feminist debates, 'sex' was taken with reference to biological differences and it was considered to be the main reason for women subordination. 'Gender' issue emerged to show that masculinity and femininity highlight very little about essential qualities of sexual difference. Rather they are used to encourage people to take up 'appropriate' forms of behaviour (Pilcher&Whelehan 2004). With sex differences socially institutionalized, the society came up with a particular set of behaviour. For instance, men were known for their aggressive behaviour, boldness and uncompassionate approach whereas women for tolerance, shyness, compassionate and submissive behaviour. However, it was argued that none of the qualities attributed to the masculinity are inborn, they are instilled by the society and perpetuated by a family in a gendered manner during the process of social upbringing and development.

Over the period, 'gender' evolved into a socio-cultural term to refer to the socially defined roles and behaviours assigned to 'males' and 'females'; and the term 'sex' turned out to be a biological and physiological phenomenon to refer to the woman and man. Thus, gender became the function of power relationship between women and men, wherein women are seen less important than men. This is how gender was understood as a man-made concept; and 'sex' as natural or biological characteristics of human beings. It is pertinent to note that even when tolerance and compassion through considered to be the female centric attributes, they are found very critical for the very survival of the humanity. Since, the biological differences gradually got in built in the socio-economic, political and cultural setting of the countries, the gender inequality and discrimination became an important issue.

Historically, the struggle against gender discrimination and inequality was pursued as an ideology in the feminist perspective. Three waves of feminism are noticed. '*First wave*' was a part of sophisticated rhetoric of equity and developed simultaneously in Europe and in the United States. It shared the Western political framework of enlightenment and liberalism. It was claimed that women and men should be treated as equals, given access to the same resources and positions and fully acknowledged for their contributions (Krolokke, 2005). The 'Second-wave' feminism is known as the radical feminism of the women's' liberation with movement emerging during 1960s and early 1970s. It grew out of the leftist movements in post-war Western societies. At that time, other movements also came into origin including the anti-Vietnam war movement, the lesbian and gay movements, and the civil rights and

Black power movements in the United States (Krolokke, 2005). ‘Third-wave’ feminists are motivated by the need to develop a feminist theory and politics wherein people are categorised into “us” and “them”. However, the response has not been very encouraging.

Gender Inequality, in simple words, may be defined as discrimination against women based on their sex. In country like India (and true for many developing societies), women are traditionally considered by the society as weaker sex and accorded a subordinate position to men. Woman is degraded, exploited and discriminated both in home and the outside world. The UNFPA (2009) highlights that equality between men and women exists when both sexes - are able to share equality in the distribution of power - have equal opportunities for financial independence through work or setting up businesses - enjoy equal access to education and the opportunity to develop personal, interests and talents, share responsibility for the home and children - and are completely free from coercion, intimidation and gender-based violence both at work and at home”. In the rapidly changing world, UNDP definition appears to be more relevant. It states gender equality does not imply that all women and men must be the same. Instead, it entails equipping both with equal access to opportunities that improve their lives so that women have equal access to resources and right as men and vice-versa (Asia Pacific Human Development 2010).

GENDER DISCRIMINATION IN INDIA: HISTORICAL PERSPECTIVE AND EXPLANATIONS

In India, the history of the struggle of discrimination dates back to the 19th century. Social reformers including Raja Ram Mohan Roy, Ishwar Chandra Vidyasagar and Keshub Chandra Sen fought against ‘sati system’, ‘poor conditions of widows’, ‘early marriage’, ‘illiteracy’ etc. The Indian National Congress (1887) provided a forum for the discussion on social issues and women’s wing, the ‘Bharat Mahila Parishad’ was created in 1905.

In post-independence period many national and international committees/ forums and their reports, seminars generated a lot of interest in women issues and gave a new life to gender mainstreaming, development and women empowerment. The global reports like ‘Towards Equality’ and other published on the Status of Women since 1974, the United Nation’s declaration of 1975 as the International Year of Women, the First World Conference on Women held in Mexico, National Policy for empowerment Women 2001 and so on generated a lot of interest in this subject. In spite of all these efforts, *de jure* equality granted by the Indian Constitution remains a distant dream. Large masses of women had remained unaffected by the rights granted to them. However, the intellectual foundation of women’s movement expressed in both activism and the academia has led the Government to introduce several

laws to protect women in India. Some of those include:(1)The Immoral Traffic Prevention Act, 1956;(2) The Dowry Prohibition Act, 1961, (28 of 1961 and Amended in 1986; (3)Equal Remuneration Act, 1976; (4) The Indecent Representation of Women (Prohibition) Act, 1986; (5) The Commission of Sat (Prevention) Act, 1987 (3 of 1988); (6) Protection of Women from Domestic Violence Act, 2005; (7) Prohibition of Child Marriage Act, 2006; (8) The Sexual Harassment of Women at Workplace (PREVENTION, PROHIBITION AND REDRESSAL) Act, 2013.

It needs to be underlined that gender is a multifaceted issue. It relates to gender determining power relationships, roles and responsibilities, expectations, and access to resources (UNPFA 2003). There exists a complex web of dynamically connected structural and other socio-economic and cultural factors that operate to cause discrimination against women. Some of these are in built historically and deserve discussion as under:

1. **Patriarchy:** It is a system of society or government in which the father or the eldest male is the head of the family and descent is reckoned through the male line determines descent. Walby finds patriarchy a social structure in which men dominate, oppress and exploit women. Hartmann (1982) argues that before the development of capitalism, a patriarchal system was established in which men controlled the labour power of women and children in the family. This hierarchical control got strengthened as capitalism developed and men used to segregate paid work to their own and largely limiting women's role in homes. This division of labour acted to weaken women's position in the labour market and the hierarchical domestic division of labour got perpetuated. This led to the unequal economic, social and political status and position of women on the one hand, and the perpetuation of deeply entrenched socio-cultural stereotypes about women.

Women's exploitation in India is an age-old cultural phenomenon, further validated by our religious texts and beliefs irrespective whether one is Hindu, Sikh, Muslim or belong to any other religion. It derives its roots in the ancient Hindu law giver (Manu), wherein women are supposed to be in the custody of their father when they are children, of their husband when married; and when aged/widow under the custody of her son; and in no circumstances, women should be allowed to assert independently. Such a system continues to be predominant in India barring a few exceptions here and there.

It is ironic that the women too, through their continued socio-cultural upbringing and conditioning have accepted their subordination to men and this patriarchal system.

2. **Poor Economic Status:** In poor countries like India wherein about 70% of population is found vulnerable, women depend on their male counterpart for their survival. As a bread winner male tends to dominate women, and this tolerance becomes a social base and an accepted cultural value. It gets perpetuated by faulty family laws and lack of women education and employment, low wages and extreme poverty. Given the slow transformation process and political participation, women are pushed into low paid domestic services, migrant labourers and even in prostitution. Even in urban areas, women get unequal pay for equal or more work and are offered low skill jobs, which has become a major aspect of gender inequality.
3. **Biased Social Mindset and Cultural Practices:** Culture is the process of socialization whereby the values and practices of one generation are transferred to the next generations. The process of cultural change is known to be very slow as compared to technological changes. Since time immemorial, religious texts, folklore, songs, social practices, etc have glorified the male child birth and its importance, whereas the girl child birth is always seen as a burden. Further, the continued socio-cultural practices including dowry system, sexual violence, rape, honour killing and such other adverse social conditions, killing female child in the mother's womb, the women continue to be insecure.

The widening gender gaps, women empowerment and women reproductive health get interlinked to explain - the low sex ratio, high infant and maternal mortality, infanticide and foeticide, abortion, low age of marriage, son preference and general under-cutting of women in social spheres through the cultural setting, religious texts and low rate of socio-economic transformation. Besides, the incidence of violence against women seen in terms of kidnaps, dowry burning, rapes and molestation are horrifying. In such an interconnected social and economic system, even serious attempts to women empowerment through social transformations by extending education facilities, creating job opportunities and expanding civil, political and social rights become a difficult and complex process.

Extent: The gender gaps can be measured through the yardstick of women development. India ranks poorly, 86 in 175 countries of the world. Global Gender Gap Report (2013) reveals India's status vis-à-vis other countries in terms of access to the opportunities for women.

Table: 1 Global Gender Gap Index							
Countries(135)	India	China	USA	UK	France	Russia	South Africa
Rank	101	69	23	18	45	61	17
Source: The Global Gender Gap Report, 2013							

A study by Sengupta (2016) analyzing the interpersonal differences in attainment of well-being among men and women in 28 states of India (Table 2)ⁱⁱ, concludes: First, men's well-being is determined significantly by income along with some other factors, while women's well-being is not determined largely by income, but by other non-income dimensions, particularly in the countryside. Two, women are lagging far behind men both in rural and urban areas in India. Three, male members either in male-headed or female-headed households somehow enjoy more privileges and a higher status of well-being. Four, large family size does not have negative influence on the well-being of men in India, whereas women are harmfully affected by it. Ironically, women bear the entire burden of larger family size and their well-being declines. Five, the situation of both rural men and women is worse than their urban counterparts. Rural areas are backward, lack access to education facilities of life, and people are superstitious and less liberal. People's lives are often threatened economically, socially and politically. Six, the situation of women in northern mountains is significantly better than that of women in all the other agroclimatic regions.

Table 2: Ranking of States According to Average Male and Female Well-being (Indices, and Per Capita NSDP during 2005-06)			
State	Ranking According to Average Male Well-being Index	Ranking According to Average Female Well-being Index	Ranking According to Per Capita NSDP
Mizoram	1	24	16
Delhi	2	28	1
Maharashtra	3	2	3
Himachal Pradesh	4	1	6
Odisha	5	15	24
Gujarat	6	26	7
Karnataka	7	11	9
Sikkim	8	3	12
Uttarakhand	9	9	13
Punjab	10	5	4
Haryana	11	20	2

Madhya Pradesh	12	27	26
Andhra Pradesh	13	12	10
Nagaland	14	21	18
Uttar Pradesh	15	16	27
Chhattisgarh	16	14	22
Assam	17	10	23
West Bengal	18	8	14
Tripura	19	6	11
Kerala	20	23	5
Jammu and Kashmir	21	25	19
Meghalaya	22	7	15
Arunachal Pradesh	23	13	17
Manipur	24	22	21
Jharkhand	25	17	25
Tamil Nadu	26	4	8
Bihar	27	19	28
Rajasthan	28	18	20
Source: Adopted from Sengupta Anindita (2016): “Gender Inequality in Well-being in India, EPW(LI,13), March 26, P.46, Table 2)			

This study brings out an interesting economic reality and also gives a bold hint. Since the well-being is closely associated to income, corrections may begin in the informal sector employment particularly at the country side as that sector is dominated by unequal wages paid to women. They are engaged in relatively longer working hours for unpaid services and in harmful industries, occupational hazards etc. It is deplorable that the gender inequality continues to be practiced in institutions of governance too, even after over sixty years of independence. The 73rd and 74th constitutional amendments stipulating reservations for women in the Panchayati Raj System and Parliament have not brought the desirable results.

GLOBALIZATION, GLOBAL GOVERNANCE AND GENDER DISCRIMINATION

In the era of globalization, national boundaries have gradually diminished and the virtual world of mobile, internet etc. have become an integral part of human life. Many local commercial organisations have accessed to foreign markets to operate and earn profits. With enlarged production, if employment rises, the female workers participation in the workplace in the normal course should also increase. But pay inequity between male and female workers and labour force participation rate continue to be influenced by the changes in labour market selectivity, education, job performance, attitudes towards women workers and women's preferences for part time jobs (Blau and Kahn, 1997). Across the world, given the vast global inequalities, the roles of women are seen different in different countries. Indian women managers in the public sector still find gender inequity at the workplace (Naqvi 2011). Thus, designing an equitable and fair reward system even after taking into account the individual, gender and cultural differences, conduct and behaviour of employees, alone will not help.

In the global governance process, the gender sensitization has emerged as an important matter. The United Nations introduced the United Nations Development Fund for Women (UNIFEM) and United Nations Girl's Education Initiative (UNGEI) and many others schemes including "Acceleration Progress towards the Economic Empowerment of Rural Women". The World Bank has taken a number of initiatives for women empowerment, and assisting other countries to advance gender equality through its lending and non-lending activities. Gender equality has been integrated to the World Bank's poverty reduction mission (UNGEI). In attaining the Millennium Development Goals, women education remains central in integrating poverty and inequality for sustained economic growth. The global firms also contribute by learning from the World Bank experience and its activities related to improving access to health, education and other economic resources to women.

The widely discussed globalization induced gaps and inequalities in poor economics like India can be taken care of by the constitutional and the active socio-economic and political measures to be taken for transforming the male dominated society of India. Indian Constitution particularly Articles 14, 15(1), 15(3), 16, 39(a), 39(d), 42 and 52(A)(e) provides legal frame works to eliminate gender inequality. The Directive Principles of State Policy provides provisions for women's benefits and safeguards against discrimination. The Preamble to the Constitution talks about justice and provides equality of status and of opportunity to all its citizens. Article 15 provides for prohibition of discrimination on grounds of sex, religion, race, caste or place of birth. Article 15(3) authorizes the State to make any special provision for women and children. Other than these Constitutional safeguards, various protective legislations have also been passed by the Parliament to eliminate exploitation of women and to give them equal status in societyⁱⁱⁱ. But these legislative measures meant for legal protection and others will

help only if all round efforts are made and tangible at the ground. To start with economic opportunities have to be created to make them economically independent, health status to be improved and further initiatives to be taken by streamlining procedures to deliver speedy justice, create freedom and enlarge choices while giving access to public services and addressing concerns of single and disadvantaged women.

CONCLUSIONS AND THE FUTURE OUTLOOK

India's claim to be the world economic power will be meaningless if half of its population comprising women are poor discriminated and subjected to gender based violence and inequality. In spite of India making its best effort through creating economic opportunities and enacting law, the gender gaps in interpersonal disparities in well beings is quite tangible in India and its states. The lack of economic opportunities, access to land, credit and employment on the one hand and the disproportionately poor women further dis-empowered and bounded with strains of child birth and other family responsibilities, also have a bearing on gender discrimination.

During the globalization process women's participation in the labour force is likely to rise with growth of the services ICT enabled technological advances and the reduced risk and frequency of childbearing. However, the desire for sons and restricted opportunities for women further consolidated by cultural mind-setting, religions texts and slow rate of social transformation pull women back. Those cultural structures perpetuating patriarchy may fade with right kind of economic modernization and globalization, but the political initiatives are required to spread democratic values (equality, liberty and justice) with equalitarian approach and the right kind of education.

The purpose has to be redefined so that women are enabled to have a notion of dignity and self-worth, integrity, freedom from coercion and control over, social and economic resources. Since, empowerment is both a means to an end and an end in itself. It has to focus on the building of economic and social capabilities among individuals, classes and communities to bring a social change from a hierarchical to and egalitarian society by recognizing equal rights to all individuals.

Since, the economic prosperity, changes in legislations and the on-going gender gaps and discriminations may go hand in hand, a real change of the mentality of men is required. Equally important is that women also need to change themselves to bring a change in their mindsets, which had passed through a cultural conditioning of the exploitative system of patriarchy and supports men's agenda of perpetuating that patriarchy. Still more important is that they should neither promote excesses against men nor be a party to such actions.

The struggle against gender discrimination and inequalities, therefore, has to be fought out through a continued struggle by women themselves. The government has to change through its different policies and institutional mechanisms and interventionist programmes. This requires incorporating gender sensitivity into decision-making at all levels from policy planning, legal action and implementations to interrelating social development with socio-economic and political setting, law and institution-building to programmatic intervention. Foundations have to be laid down for evolving a democratized participative socio-economic and political system, and a social evolution of mindsets to allow women to be equal partners all along men.

Thus, a systemic change is required to create an enabling process with an operationalised approach in which legislation, programmatic interventions and innovative initiatives are inbuilt to gain control over self, resources and existing social attitudes of perpetuity. This will be difficult goal until or unless human being become honest to the purpose for which they are there. In India, this is a daunting task and requires initiatives at political level. In any case, the women in India have to keep up their struggle.

GLOBALIZATION AND ITS IMPACT ON THE RURAL INDIAN WOMEN: ASPIRATIONS, OPPORTUNITIES AND CHALLENGES

Anula Maurya

Principal, Kalindi College

anulamaurya@yahoo.co.in

Abstract: *Today, globalization all around is a buzzword. It means different things to different people. For some, it is simply the movement of products and services across the national boundaries. A few see it in terms of movement of ideas, language and people around the world. Others consider it the dominance of multinational corporations and the destruction of national and cultural identities. But whatever way one looks at, globalization has brought the world closer to be known as global village and global governance has become a reality.*

It is generally agreed that globalization has brought both opportunities and threats while affecting lives of all people including men and women and communities living in cities, suburbs of developed and developing countries. At the macro level, globalization in India has increased opportunities for growth, employment and investment and so on besides impacting the Indian culture and value system. Some scholars are skeptical about the gains of globalization particularly for the rural women. The rural areas accommodate about 60 percent of the Indian population and it is quite diverse ranging from well-developed commercial large-scale and medium-sized farms producing for the market economy to family operated small land holdings supporting subsistence living to micro and small scale cottage industry. The role of women is crucial in rural areas and has been changing over the period from the traditional housewife to the modern women with rights and freedom equal to men and participating in all spheres.

In this background, the central focus of this paper is to evaluate the impact of globalization on the rural sector in general and the women in particular. A review of women's existing conditions with regard to their command over skills and resources, household structure and gendered division of labor, and their role in decision-making processes will be undertaken. It will further examine how the globalization process has affected women in the unorganized sector with respect to earnings, employment, working hours, migration, family living, child labor, etc. in the emerging socio-economic and political structures.

Keywords: *Globalization, Indian Women, Rural Sector, Effect of global relations on women.*

INTRODUCTION

Globalization has gained an enormous importance over the years. Known as the process of international integration, it has encouraged exchange of views, information and cultures and also the flow of products, services and capital. The enhanced transportation and telecommunications have expedited globalization while generating exchange and interdependence of economic and non-economic high-tech activities. The dominance of multinational corporations and the destruction of cultural identities.

Many see the dominance of big multinational companies and international forms as an important feature of globalization. But historically the origins of globalization can be traced back to the earlier years. There is no doubt the connectivity of the world's economies and cultures grew very quickly during the late 19th century and early 20th century.

The most significant feature of globalization, which people lost track of is, to know how it works. It requires the government and state to withdraw and raise the scope for market economy and enhance the private sector simultaneously. The withdrawal of state implies reduced government intervention by cutting down expenditures and subsidies, leaving the production regulatory frameworks and not promoting the merit goods. This has to be true not only in the domain of economic activities but also for all other socio-political and cultural sectors.

In such circumstances, rural sector is not going to be isolated from the impact of globalization. Since, women is an important subset of rural sector, it will be interesting to examine how globalization will impact the rural life in general and rural women in particular.

GLOBALIZATION, ITS DYNAMICS AND THE RURAL SECTOR

Globalization process being so deep-rooted and extensive, is thus natural to have different effects on different people and communities, cities, suburbs, men and women. Globalization cannot be divorced from the production efficiency to be competitive. This brings the shifting in division of labor. How these changes affect rural women depends upon the existing role of women in the existing economic system and how much are they empowered to take advantage of the expanding activities and emerging opportunities. In fact, this depends on a large number of underlying interconnected forces operating at the household, community, state and global levels and also by the globalization induced changes in the spheres of demography, socio-cultural values and technology. For instance, women skills and their command over resources, social norms impinging on gender division of labor and decision-making processes will determine their role in this matrix to participate in declining as well as expanding activities.

With the increased market integration, the relatively better off farmers with right kind of approach can venture into non-farm activities. To enhance their earnings and their women and children can acquire better education to avail the expanding opportunities.

On the other hand, the lower end households resources may not gain until market protects them. They may even lose their subsistence. Women, thus at this level are likely to suffer until access to resources and employment opportunities are made available to them.

The customary rights if implemented properly enable women to have a graceful living which can also be supplemented from non-farm activities. However, intensive farming and harvesting of forests for international markets. Consequently, the degradation of critical natural resources have assumed an important negative development which have adversely affected the rural women. They are further deprived of the gains coming from bio-diversity and indigenous plants and materials which the women used their traditional knowledge and experience to run their households.

Indian rural sector is diverse, ranging from well-developed commercial large-scale and medium-sized farms to family operated small scale subsistence farming. Micro and cottage industries is another important feature. In rural setting, land, livestock and natural resources complemented with credit and extension services, government facilities play an important role in the development of households. Without large scale technological improvements and lack of industrialization, population pressure brings marginalization of land holdings forcing production to be at the subsistence level.

Thus, in a situation where globalization fails to absorb rising population away from agriculture, women are going to be the worst sufferer. Let us also know that globalization brings changes in the agriculture by affecting production of crops, horticulture and livestock and aquaculture. With all these changes, gradually taking place the role of women in India is subject to change. It is more so, because they are at the centre of households and their social life and economic activities. Over the period they are expected to move from the past social traditions into a new era of freedom and rights.

GLOBALIZATION AND WOMEN

During the globalization process, the government has to work on liberalization and financial market integration to ensure efficient financial management so as to provide a sustainable access to micro-credit for the rural sector. This can benefit all particularly the women if they have given access to micro-credit facilities, and are integrated to the development process.

Globalization together with trade liberalization and capital movements has encouraged commercialization of production including of agriculture. This has created new employment opportunities for rural women especially in the garments and electronics sectors. This had added new risks of shifting from permanent to seasonal employment. In addition, women need to have required additional skills, education and knowledge, and access to market networking and resources. In addition, the largescale migration is encouraged from rural to urban areas resulting into a distinct feminization and casualization of labour force in export-oriented industries. They may have to work for long hours and under difficult circumstances at lower wages away from homes. The unorganized agricultural and

informal sectors are still out of the sphere of formal labor laws but has to be competitive in line with globalization policies. For instance, contractulization and casualization of labour has come up in the agri-business enterprise, rural industries and export processing zones contract farming. This has adversely affected the women lives both at home and work place.

Globalization thus works as a double-edged process for the women. It creates opportunities for a few where as major majority is deprived off the benefits of government subsidies, social security and safety nets and labour rights. Women in the unorganized sector are likely to suffer due to increased unemployment, long working hours, migration, family breakdown, child labour, etc. which are expected from globalization. However, some women may gain due to the foreign capital investment. A few can seek education from abroad in the transnational sense. But for women to be the large scale source of human capital and contributor to the national development, their integration in the development process is essential.

IMPENDING DANGERS

It must be known that during the period of globalization, all have to be competitive and efficient, in which cheap labour plays a very important role. Therefore, the demand for cheap labour is rising in the newly emerging industries, agribusinesses, EPZs and services established often with the help of foreign capital. Interestingly women are preferred workers because they can be hired always with, in “irregular” jobs, with lower pay and other less favourable terms than men, and easily dispensed with.

In some cases, rural women leave their villages to take advantage of employment opportunities elsewhere, including overseas. Migration has therefore, become both a process and consequence of globalization. In this process of labour movements from rural to urban, from villages to towns, from small to major industries, women have come up to work as nannies, maids, factory workers, entertainers, or teachers and nurses. In some instances, there has been a rise in forced migration for girls and women trafficking.

The increased employment opportunities have motivated women to acquire new skills, education and knowledge to take up works which earlier only men used to do. But let us not forget with increased demand for cheap female labour and aggressive job advertising, migration for remittances is also associated with the risks of trafficking and HIV/AIDS. The process of migration can also cause an increase in women’s workload, particularly where social support systems and services are weak or have eroded.

With access to information technology, patterns of gender relations, cultural setting and decision-making has been affected. Women can think independently for self, family, community and the nation and can adopt to any lifestyles for her choice. But among all threats and challenges, they still continue to be subjected to violence and discrimination. This requires change in mindsets at all levels; and the initiative must come at the political level disregarding the vote based political culture of India.

CONCLUSIONS

Globalization no doubt has brought the world closer, but it has brought both threats and opportunities for women. When the globalization process gets deeper to affect all sections and structures in the perspective of private sector, opportunities come for a very few who belongs to the empowered class whereas threats loom large for a large majority of women. These threats are serious until or unless they all are integrated to the mainstream development process. This calls for the role of the government, international institutions, non-governmental organizations and civil society to come forward for a joint strategy. Only then women can be both the main agent of change and beneficiaries out of the globalization process. Globalization impacts can be further appreciated when analyzed in terms of women's existing conditions with regard to their command over education and skills, resources, household structure and gendered division of labour, and their role in decision-making process. Among all threats and challenges, the political culture of this country must change for changing the mindset of people. Women in turn must also change not to be anti-men but against their violence, harassment and discrimination.

International Peace: ‘Moving towards the Inclusive and Participatory Approach’

Anula Maurya

Principal, Kalindi College

anulamaurya@yahoo.co.in

Abstract: *This paper focuses on: (i) The concept of Global peace; (ii) A brief review of changing perceptive of Global peace; (iii) Identifying the challenges before global peace; and (iv) Concluding remarks. Accordingly, this paper is divided into 4 sections. Now let me begin with the first section that is introduction.*

Keywords: *Global peace, Ahinsa, Vasudheva Kutumbakam.*

INTRODUCTION

Peace is a concept that has several meanings. It can be defined international relationship without wars, interpersonal relations without conflicts as well as peace of mind which means calmness, patience, and understanding of oneself. Global peace is an ideal state of freedom, prosperity, non-violence, within all nations and people. It means not only an end of hostilities between two antagonistic countries but also prosperity and agreement between two or more countries and nations.

However, most of the words religions promote for love and forgiveness. But Ahinsa (Avoidance of Violence) is a central concept of all religions. Buddhist believe that anger and other negative state of mind are the causes of wars and fighting and global peace can be achieved by establishing peace within our minds and people can live in peace and in harmony only if they cultivate positive emotions such as love and compassion. In Christianity peace, love and forgiveness are three basic principles. The word Islam derives from the Arab word Salaam, which means peace. Hinduism conception of Sanskrit phrase ‘Vasudheva Kutumbakam’ which translates as ‘The world is one family’ signifies our attachment to the global peace.

CHANGING PERCEPTIVE OF GLOBAL PEACE

In the 21st century, the concept of global peace has changed. New paradigm to achieve global peace shifted to strengthen the means to promote inclusive societies and encourage the global collaboration, global peace can be sustained if it is based on the principles of social justice and spirit of humanity. At the same time equality should be regarded not only at national level but also at the international level. So

that all human beings could achieve prosperity, which can be ensured by mobilizing means of implementation, including financial resources, technology development and transfer and capacity building, as well as the role of global partnership and strengthen national institutions through international cooperation, for building capacity at all levels particularly in developing countries.

The global peace as a target for sustainable development goals of United Nations reflects the universal importance of peace. Every single one of the 17 sustainable development goals is a building block in the 'Global architecture of peace,' as development and peace are interdependent and mentally reinforcing. Goal 16 which is related to promotion of peaceful and inclusive societies, consists of 12 targets, each target reflects that peace and social justice at national level could only be achieved through inclusive and participatory approach with international cooperation.

GLOBAL PEACE: CHALLENGES AHEAD

Global peace is facing numerous challenges due to social inequality, discrimination, exclusion, poverty, undue exploitation of nature, corruption and racism. Furthermore, the sources of these challenges are multi-dimensional, complex and span national borders, which require solutions through our fundamentally positive thinking and broadening of the people vision by multicultural and multi-religion education. Sustainable development and peace are mutually interdependent. Sustainable development not only eliminates the causes of conflict but also provides foundation for lasting peace. Meanwhile, peace reinforces the conditions for sustainable development and liberates the resources needed for societies to develop and prosper. The earth summit (June 1992) issue a blue print name Agenda-21 recognized the vital links between economic development and environment. It states that "Environmental protection shall constitute an integral part of development" and that "Peace, development and environmental protection interdependent and indivisible. The differential pattern reflects variations in economic, social and ecological conditions and approaches. For Example environmental problems in developing countries largely result from a great stress on the natural base whereas environmental problems in industrialized countries results from problems of pollution. Thus in these countries conservation approach with respect to land, water and forest can afford environmental management whereas in developing countries only a rational and sustainable resource exploitation will be able to reconcile environmental constraints with development requirements.

Global peace can be achieved by multi-dimensional effort through numerous facets of economic, social, ethnical, religious and political elements and copious ways to deal with them. Global peace implies equity between economic and sociology and science and spirituality. The economic status of the nation

determines the degree of success of any peace initiative. Increasing quantity as well as quality of production and developing effective institutions at all level with international agreements may support peace.

Peace implies social equity with reference to 'production structures and relationship' which ensure a fair distribution of income power and opportunities thus providing the basis for social peace. It has four dimensions: (i) equity among nations (ii) equity within countries (iii) equity between generations and (iv) equity between economics and environment which also means an ecologically acceptable production, where everything removed is then replaced so as not to harm the ecological system. It is certainly a limiting factor because the level of production should be ecologically desirable and should be in tune with eco-cultural trusteeship which conceives of both utilisation and preservation for present and future generation.

Secular organizations addressing to human rights, technology and education may be used to end all forms of conflicts. This is why we need a new concept of peace. Peace means serenity. One can only feel serene if one's human rights are not violated and one's integrity is protected. The emphasis on identifying oneself with others undoubtedly brings about peaceful society and this is the fundamental spirit of humanity. The more we seek the spirit of humanity, the more we become inclusive and free our internal spirit from artificial boundaries that separate us all.

CONCLUSION

Global peace is process which can be sustained through ecological integrity and adaptability to earth's life support system as well as exploration of resources, investment in technological development and institutional changes are all made consistent with future and present generation. In recent years the concept of global peace has brought a general realization that social perception must shift towards ecological side so as to achieve qualitative growth within the limits of the ecosystem's carrying capacity. A carrying capacity based on the planning process, innovative technologies for enhanced material and energy, affectivity of production and consumption, structural economic change towards less resource-intensive sectors and preventive management through increasingly.

Global peace can be sustained by maintaining environmental integrity, promotion of economic efficiency and ensuring social equity at regional, national and international level which is intimately connected with the issues of justice right and obligations. Interventionist policies of ecological capabilities through inclusive and participatory approach at all levels are highly essential to ensure equal access to justice for all of us.

ⁱIn the U.S., about 95% women have received a secondary education, which is slightly higher than for men (94%).

ⁱⁱBy using unit-level data from NFHS-3 during 2005–06, the major non-income factors affecting personal well-being that may cause significant differences of well-being among men and women are identified and further ranked for both male and female.

ⁱⁱⁱThe Sati (Prevention) Act, 1987 was enacted to abolish and make punishable the inhuman custom of Sati; the Dowry Prohibition Act, 1961 to eliminate the practice of dowry; the Special Marriage Act, 1954 to give rightful status to for inter-caste or inter-religion marriages; Pre-Natal Diagnostic Techniques (Regulation and Prevention of Misuse) Bill to stop female infanticide and so on. Section 304-B was added to the Indian Penal Code, 1860 to make dowry-death or bride-burning a specific offence punishable with maximum punishment of life imprisonment.

REFERENCES

- [1] Arora, G.K. 2015, Globalising India: Political Economy Dimensions, Delhi
- [2] CREIGHTON, C. 1999, “The Rise and Decline of the ‘Male’ Bread winner Family in Britain”. *Cambridge Journal of Economics*, 23, 519-541”.
- [3] Dagar, Rainuka 2014, Gender, Identity and Violence: Female Deselection in India
- [4] DALY, J. 2001, ‘Gender equality rights versus traditional practices: struggles for control and change. *Development Southern Africa*. 18:1”.
- [5] DASGUPTA, P. 1995, ‘The Population Problem: Theory and Evidence’. *Journal of Economic Literature*, 33, 1879-1902”.
- [6] Francine D. Blau and Lawrence M. Kahn, 1997, “Gender Differences in Pay”, *The Journal of Economic Perspectives*.
- [7] Government of India, Different Official Reports.
- [8] Pilcher, Jane and Imelda Whelehan 2004, 50 Key Concepts in Gender Studies, SAGE Publication Ltd, London,
- [9] “Three Waves of Feminism from Suffragettes to Girls”. Retrieved June 2016, from www.sagepub.in/.6236_Chapter_1_Krolokke_2nd_Rev_Final_Pdf.pdf.
- [10] UNPFA 2003, “Ending Widespread Violence Against Women.” In Promoting Gender Equality. Retrieved from <http://www.unfpa.org/violence.html>”.
- [11] UNFPA, 2009, Retrieved January 2015, from :<http://unfpa.org>”.

-
- [12] UNITED NATIONS DEVELOPMENT PROGRAMME, 2005 and Human Development Report 2005. Geneva. Different years. Retrieved February 2016, from <http://undp.org>.
- [13] *UNICEF “Promoting Gender Equality: An Equity-based Approach to Programming”*.
- [14] UNGEI 2013, Retrieved April 2016 from: <http://ungei.org>.
- [15] World Economic Forum, 2013, The Global Gap Report.

सोशल मीडिया और लघुपत्रिकाएँ

अनुला मौर्य

प्राचार्या, कालिन्दी महाविद्यालय

anulamaurya@yahoo.co.in

शोधसार -21वीं शती को सूचना और प्रौद्योगिकी की शताब्दी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। सोशल मीडिया के विविध रूप इसी सूचना और प्रौद्योगिकी के नये और प्रभावशाली रूप कम्प्यूटर और इंटरनेट साक्षरता से इनके रूप खासे बदल गए हैं। अब आपको अखबार, किताब या लघुपत्रिका के लिए हॉकर के पास नहीं जाना पड़ता। अब वह प्रकाशन के तुरंत बाद आपके मोबाइल या कम्प्यूटर पर उपलब्ध रहती है। इससे पाठकों की अपनी पसंदीदा पाठ्यसामग्री तक सीधी पहुँच और अधिक सुगम हो संसाधनहीनता के कारण प्रायः कई लघुपत्रिकाएँ अपने पाठकों तक नहीं पहुँच पाती थीं और इसी कारण हिंदी की अनेकों लघुपत्रिकाएँ बंद हो गयीं, लेकिन सोशल मीडिया के उभार ने तमाम लघुपत्रिकाओं को अपनी गतिविधियों को निरंतर चलायमान रखने के लिए प्रेरित किया है, उन्हें पुनर्जीवन देने का ऐतिहासिक काम किया है। हिंदी की तमाम पुरानी पत्रिकाओं के साथ-साथ हिंदी की दो सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाएँ 'पहल' और 'तद्भव' अब इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। कई नयी ई-पत्रिकाएँ सोशल मीडिया के विविध मंचों/माध्यमों से पाठकों की साहित्यिक जरूरतों को पूरा कर रही हैं। साहित्य की बात करें तो उसकी विविध विधाओं पर भी सैकड़ों ई-पत्रिकाएँ मौजूद हैं। हिंदी साहित्य से संबद्ध ई-पत्रिकाओं में इस समय 'जानकीपुल', 'समालोचन', 'अपनी माटी व 'मूक आवाज' 'द वायर हिंदी', 'शब्दांकन.कॉम' अत्यंत लोकप्रिय ई-पत्रिकाएँ हैं। हिंदी की इन ई-पत्रिकाओं ने साहित्य को नये ढंग से देखने-समझने के लिए प्रेरित व प्रोत्साहित किया है। ये ई-पत्रिकाएँ नये-नये विषयों को व सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों के एक बड़े मंच के रूप में अपना स्थान बना रही हैं तथा नये पाठकों के निर्माण की दृष्टि से ऐसी ई-पत्रिकाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। मेरे शोधालेख 'सोशल मीडिया और लघुपत्रिकाएँ' का उद्देश्य हिंदी की महत्वपूर्ण ई-पत्रिकाओं की भूमिका को रेखांकित करना है।

सोशल मीडिया पर हिंदी की लघुपत्रिकाओं की मौजूदगी या उपलब्धता हिंदी समाज के लिए उल्लेखनीय और परिवर्तनकारी घटना है। इसलिए इसे 21वीं शती की एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जाने लगा है। असल में 21वीं शती को सूचना और प्रौद्योगिकी की शताब्दी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। सोशल मीडिया के विविध रूप इसी सूचना और प्रौद्योगिकी के नये और प्रभावशाली रूप हैं। इस समय जिस गति से दुनियाभर में इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या बढ़ रही है, उसने तमाम संचार माध्यमों के स्वरूप को ही बदलकर रख दिया है। अखबारों, किताबों और लघुपत्रिकाओं के स्वरूप भी अब वैसे नहीं रहे, जैसे पहले कभी हुआ करते थे। कम्प्यूटर और इंटरनेट साक्षरता से अखबारों, किताबों और लघुपत्रिकाओं के रूप खासे बदल गए हैं। अब आपको अखबार, किताब या लघुपत्रिका के लिए हॉकर के पास नहीं जाना पड़ता। एक समय था, जब किताबों या पत्रिकाओं को अपने पाठकों तक पहुँचने में ही महीनों और सालों लग जाया करते थे, लेकिन अब ऐसा नहीं है। अगर आप सोशल मीडिया पर हैं या उससे जुड़े हुए हैं तो तमाम सद्यप्रकाशित किताबों और पत्रिकाओं की जानकारी तुरंत आपके पास पहुँच जाती है। इतना ही नहीं, अक्सर किताबें या पत्रिकाएँ प्रकाशन के तुरंत बाद आपके मोबाइल या कम्प्यूटर पर भी उपलब्ध हो जाती हैं। सोशल मीडिया के आने के बाद का यह बड़ा परिवर्तन है। इस परिवर्तन का सीधा लाभ पाठकों को मिला है। इससे पाठकों की अपनी

पसंदीदा पाठ्यसामग्री तक उनकी सीधी पहुँच अधिक सुगम हो गयी है। इसका सीधा लाभ छोटे कस्बों या नगरों के पाठकों को भी मिलने लगा है।

अगर हम हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं की बात करें तो हम पाते हैं कि अपने सीमित संसाधनों या संसाधनहीनता के कारण प्रायः ऐसी लघुपत्रिकाएँ अपने पाठकों तक पहुँचने में खुद को असमर्थ पाती हैं। इसी कारण हिंदी की अनेकों लघुपत्रिकाएँ बंद हो गयी, लेकिन अब ऐसा नहीं है। सोशल मीडिया के उभार ने तमाम लघुपत्रिकाओं को अपनी गतिविधियों को निरंतर चलायमान रखने के लिए प्रेरित किया है, उन्हें पुनर्जीवन देने का ऐतिहासिक काम किया है। लघुपत्रिकाएँ अब ई-पत्रिकाओं का रूप धारण कर रही हैं। हिंदी की तमाम पुरानी पत्रिकाओं के साथ-साथ हिंदी की दो सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाएँ 'पहल' और 'तद्भव' अब इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। इनके साथ-साथ कई नयी ई-पत्रिकाएँ सोशल मीडिया के विविध मंचों या माध्यमों से पाठक की साहित्यिक जरूरतों को पूरा कर रही हैं। असल में यह दौर 'ई-पत्रिकाओं' के उभार और विकास का है। सिर्फ इंटरनेट पर उपलब्ध ये ई-पत्रिकाएँ विषयों की विविधता की दृष्टि से पाठकों के आकर्षण का केंद्र होती हैं। इस समय समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, सिनेमा, संगीत, स्वास्थ्य, खेल आदि जैसे विविध विषयों पर सैकड़ों ई-पत्रिकाएँ उपलब्ध हैं। सिर्फ हिंदी साहित्य की बात करें तो उसकी विविध विधाओं पर भी सैकड़ों ई-पत्रिकाएँ मौजूद हैं।

हिंदी साहित्य से संबद्ध ई-पत्रिकाओं में इस समय 'जानकीपुल' (<http://jankipul.com/>), 'समालोचन' (<https://samalochan.blogspot.in/>) अपनीमाटी (<http://www.apnimaati.com/>) व 'मूक आवाज' अत्यंत लोकप्रिय ई-पत्रिकाएँ हैं। यह चारों पत्रिकाएँ पूर्ण ई-पत्रिकाएँ हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'जानकीपुल' है, जिसने हिंदी समाज की जड़ता से संबद्ध विविध मुद्दों पर उल्लेखनीय हस्तक्षेप किया है। इसके साथ-साथ यह हिंदी पाठकों को विश्वसाहित्य से जोड़ने का भी महत्वपूर्ण काम कर रही है। यहाँ आप विश्वसाहित्य की कई श्रेष्ठतम रचनाओं को हिंदी में पढ़ सकते हैं। इसी तरह 'मूक आवाज' आलोचना पर केंद्रित महत्वपूर्ण ई-पत्रिका है तो 'समालोचन' व 'अपनी माटी' पूर्णतः साहित्यिक ई-पत्रिकाएँ हैं। हिंदी की इन ई-पत्रिकाओं ने साहित्य को नये ढंग से देखने-समझने के लिए प्रेरित व प्रोत्साहित किया है।

सोशल मीडिया पर उपलब्ध हिंदी की ई-पत्रिकाएँ आत्ममुग्धता या आत्मप्रचार की कुसंस्कृति के लिए नहीं, बल्कि नये-नये विषयों को सामने लाने के लिए जानी जाती हैं। इन्होंने न केवल सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों के एक बड़े मंच के रूप में अपना स्थान बनाया है, बल्कि हिंदी के नये पाठक भी निर्मित किए हैं। नये पाठकों के निर्माण की दृष्टि से ऐसी ई-पत्रिकाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। असल में इंटरनेट पर उर्दू साहित्य की उपलब्धता के लिए जो प्रयास 'रेख्ता' (<http://jashnerekhta.org/>) ने किए और उसमें उन्हें जो अभूतपूर्व सफलता मिली, उसने अन्य भारतीय भाषा प्रेमियों के लिए अपनी भाषा से प्रेम को व्यक्त करने की एक नयी राह सुझाई। सोशल मीडिया के दौर में हिंदी के प्रचार-प्रसार या विकास में हिंदी की महत्वपूर्ण लघुपत्रिकाओं की भूमिका को देखें तो उसमें हिंदी की उन बेबसाइटों का खासा अहम योगदान रहा है, जो हिंदी की पत्रिकाओं और किताबों के प्रचार-प्रसार व वितरण से सीधी जुड़ी हुई हैं, इसमें से सबसे महत्वपूर्ण है - 'नोटनुल' (<http://notnul.com/>)।

अकेला 'नोटनुल' इस समय इंटरनेट पर ईपुस्तकों और ईपत्रिकाओं के एक बड़े मंच के रूप में उभरकर सामने आया है। विशेष रूप से इसने न केवल लघुपत्रिकाओं की उपस्थिति को सशक्त बनाया है, बल्कि इसने नया जीवन भी प्रदान किया है। इस समय नोटनुल चार भारतीय भाषाओं, यथा - हिंदी, उर्दू, पंजाबी व कन्नड़ के समकालीन साहित्य की इंटरनेट पर उपलब्धता के लिए प्रयासरत है। मौजूदा समय में 'नोटनुल' पर आप 'गांधी मार्ग', 'अकार', 'हंस', 'समयांतर', 'नया ज्ञानोदय', 'संवेद', 'सबलोग', 'मरुतुण', 'लमही', 'पाखी', 'आदिवासी साहित्य', 'पक्षधर', 'बनासजन', 'आगाज', 'व्यंग्ययात्रा', 'दलित दस्तक', 'युद्धरत आम आदमी', 'मीडिया विमर्श', 'उत्तरवार्ता', 'परिकथा', 'सृजन समीक्षा', 'उद्गावना', 'नया पथा', 'गाथांतर', 'प्रगतिशील वसुधा', 'उम्मीद', 'समय के साखी', 'वाङ्मय', 'कलास्त्रोत', 'साखी', 'परिचय', 'समकालीन तीसरी दुनिया', 'निकट', 'कल के लिए', 'यात्रा', 'जन विकल्प', 'रेवांत', 'वर्तमान साहित्य', 'चिंतन दिशा', 'आजकल', 'मानव संस्कृति', 'हस्ताक्षर', 'तीसरी मिर्च', 'रेतपथ', 'विश्वगाथा', 'युवा संवाद', 'संवेदन', 'अपराजिता', 'कथाक्रम', 'लहक', 'दलित आदिवासी दुनिया', 'अपनी माटी', 'समसायमिक सृजन', 'संकेत', 'आवर्तन', 'प्रेमचंद पथ', 'लोक संघर्ष', 'शैक्षिक दखल', 'निष्कर्ष', 'साकेत', 'समकालीन स्पंदन', 'तथ्यभारती', 'पिक्चर प्लस', 'लोकरंग', 'चकमक', 'स्त्रोत', 'शैक्षणिक संदर्भ', 'अदहन' व 'कथाबिंब' जैसी दर्जनों महत्त्वपूर्ण लघुपत्रिकाएँ उपलब्ध हैं।

असल में एक ही मंच पर हिंदी की दर्जनों लघुपत्रिकाओं की उपलब्धता कोई सामान्य बात नहीं है। संभव है, इनमें बहुत सी ऐसी भी होंगी, जिनके नाम ही आपने पहली बार सुने हों। इस तरह सोशल मीडिया ने हाशिए की पत्रिकाओं को मुख्यधारा में लाने का महत्त्वपूर्ण काम किया है। सोशल मीडिया के ही कारण यह संभव हुआ कि इंटरनेट पर सक्रिय आम पाठक इन पत्रिकाओं तक आसानी से पहुँच सकता है, उस पर तत्काल अपने विचार व्यक्त कर सकता है, अपनी टिप्पणी दे सकता है, उसमें लेखन के लिए संपादक से संपर्क कर सकता है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि नयी सदी की नयी चुनौतियों को देखने और समझने की दृष्टि से सोशल मीडिया की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गयी है। ऐसे में हमें साहित्य को भी नये सिरे से देखना और समझना होगा और इसमें सोशल मीडिया हमारी मदद कर सकता है। यह सब कैसे और किस रूप में संभव होगा, इसे समझने के लिए इंटरनेट पर उपलब्ध हिंदी पत्रिकाओं को गंभीरतापूर्वक खंगालना ही होगा।

*दो दिवसीय अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी 'सोशल मीडिया में साहित्य का बदलता स्वरूप' (09-10 मार्च 2017) के लिए प्रस्तुत शोधालेख

जीवन और संगीत

बलजीत कौर

हिन्दी विभाग

कालिंदी महाविद्यालय

baljitkaur@kalindi.du.ac.in

शोध सार -संगीत न केवल एक साधना है बल्कि चित को आनंदित कर मन का परिष्कार करके उदात्तीकरण की ओर ले जाता है। प्रकृति के कण-कण में संगीत समाहित है। संगीत दिन भर की थकान से चूर शरीर को नवीन स्फूर्ति से भर देता है। विविध प्रकार के मानसिक-क्लेशों, तनाव, अवसाद, चिंताओं और विकारों को दूर कर शांति व मजबूती प्रदान करता है। संगीत जातिगत, भाषागत, भौगोलिक सीमाओं के बंधनों को तोड़कर 'विश्व-बंधुत्व' और 'वसुधैव कुटुंबकम्' की ओर ले जाने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। प्रस्तुत शोधालेख का उद्देश्य संगीत के जीव, जगत और प्रकृति पर होने वाले चामत्कारिक प्रभावों का अन्वेषण करना है।

“गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते”¹

संगीत रत्नाकर में गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों कलाओं के समायोग को संगीत कहा गया है। संगीत शब्द की उत्पत्ति सम् उपसर्ग व गीत शब्द से हुई है। सम् अर्थात् सहित और गीत अर्थात् गान। संगीत में स्वर, ताल और लय का विशेष महत्व है। वैदिक युग में सामवेद की ऋचाओं से संगीत की उत्पत्ति मानी जाती है। जिस प्रकार चित्रकार, कलाकार व साहित्यकार तूलिका, रेखा, रंगों, शब्दों व आकार से अपनी रचना को आकार देता है ठीक वैसे ही गायक भी स्वरों की साधना के द्वारा अपनी आवाज़ को सुर व ताल में बाँधकर गीतों के माध्यम से विविध भावों के द्वारा सुंदर अभिव्यक्ति प्रदान करता है। प्रकृति के कण-कण में संगीत समाया हुआ है। वर्षा की टिप-टिप करती बूँदें, कल-कल, छल-छल करते नदियाँ व जल-प्रपात के गिरने, सागर की लहरों, हवा के बहने, भंवरो की गुंजार, कोयल के कूकने पत्तों के फड़फड़ाने, या फिर मिट्टी, लकड़ी, चमड़े या धातु के साज या बर्तन को बजाने से उत्पन्न मधुर ध्वनि से आनंदित होकर मन-मयूर नाच उठता है। मानव शरीर की श्वास-प्रक्रिया, नाड़ी का चलना, हृदय का धड़कना, करताल हो या उँगलियों की विविध प्रकार की थपकन या कदमताल में भी संगीत व लय का ही क्रम है।

भर्तृहरि कहते हैं ---“साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः”

अर्थात् साहित्य, संगीत व कला विहीन मनुष्य बिना सींग और पूँछ के साक्षात् पशु के समान है। इन कलाओं में अद्भुत शक्ति है जिसका न केवल मानव-मन व शरीर बल्कि जीव-जगत पर भी विलक्षण प्रभाव पड़ता है। विज्ञान जगत भी इस तथ्य से इनकार नहीं करता। साहित्य, संगीत व कलाओं से न केवल मानव-मन का परिष्कृत होकर उदात्तीकरण की ओर उन्मुख हो एक बेहतर इंसान बनने में मददगार होता है। भक्ति-संगीत से भक्तिमय, लोक-संगीत से लोक रंग से अभिभूत हो शारीरिक-मानसिक व सांसारिक संतापों व विकारों को दूर कर प्रेरणा, स्फूर्ति, शान्ति, ऊर्जा, मनोरंजन प्रदान करता है। वीर और ओज रस से राष्ट्रीय भावना, या लोकधुनों व लोकगीतों दिन-भर के परिश्रम के थके माँदे श्रमिकों की थकान उड़न-छू हो जाती है। ये कलाएँ भाषा, धर्म, क्षेत्र, जाति, वर्ग, रंग आदि की संकीर्ण दीवारों को गिराकर “विश्व-बंधुत्व” और “वसुधैव कुटुंबकम्” के आधार पर मानव से मानव को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। जिससे मानव

जीवन सुंदर और सुखमय बनता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- “जीवन को बनाये रखना सुंदरता पूर्वक जीवन निर्वाह करना स्वयं कला का कार्य है और आदिकाल से है इसी के अंतर्गत और सभी कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ।”²

कलाओं का उद्देश्य मानव जीवन को सुखमय और बेहतर बनाना है। कलाओं के बिना मानव जीवन उदासीन, उबाऊ और निराशापूर्ण होगा। उसमें नवीन उमंग, स्फूर्ति और उत्साह का नितांत अभाव रहेगा। कलाकार, साहित्यकार, रचनाकार अपनी कलात्मकता से नवीन सौंदर्य को अभिव्यक्ति देता है।

प्रो. विश्वनाथ प्रसाद ने कलाकार की महत्ता को बताते हुए कहते हैं- “कलाकार की अंतः चेतना ब्रह्मांड के नाना स्थूल सूक्ष्म भावों का मानस साक्षात्कार करती रहती है और उसके अंतर्सहित सौंदर्य और गुण से प्रभावित स्पंदित और तदाकार होती रहती है जब वह अपनी सौंदर्यानुभूति को अपनी कलाकृति में अभिव्यंजित करता है तो प्रकारांतर से विश्व के रूप गुण की झाँकी हमें स्वतः ही मिल जाती है।”³

संगीत आदि कलाएँ मेरे और तुम्हारे के भेद को मिटाकर हम सबको एक होने की प्रेरणा देता है जो बेहतर इंसान व बेहतर संसार के निर्माण में सहयोगी होता है। संगीत व्यक्ति और समाज को समीप लाता है। संगीत एक व्यायाम है जिससे श्वास-क्रिया के साथ ही मन व मस्तिष्क वैचारिक धरातल पर भी स्वस्थ रहता है और संस्कार-परिष्कार होता है। संगीत का न केवल साधारण मानव बल्कि एक शिक्षक के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। महान दार्शनिक प्लेटो ने एक सफल शिक्षक के लिए संगीत के महत्व बताते हुए कहते हैं-“एक सफल शिक्षक को संगीतज्ञ भी होना चाहिए क्योंकि अन्य सभी विषयों से बढ़कर संगीत एक ऐसा माध्यम है जो न केवल मानसिकता को प्रशिक्षित करता है वरन् मनो भावों को भी प्रशिक्षित करके उन्हें विशुद्ध स्वरूप प्रदान करता है जिससे व्यक्तिगत दुर्गुण दूर हो जाते हैं।”⁴

भारतीय संगीत का आध्यात्मिकता, धर्म, दर्शन व साहित्य महत्वपूर्ण संबंध होने के कारण विश्व भर में प्रसिद्ध है। आज भी भारतीय शास्त्री-संगीत, सूफी-संगीत, लोक-संगीत और भक्ति-संगीत का डंका संपूर्ण में बजता है। “पं. भातखंडे, स्वामी हरिदास, तानसेन, राणा कुंभकर्ण, पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, अल्लादिया खां, उस्ताद अलाउद्दीन खां, उस्ताद फैयाज खां, उस्ताद हाफिज अली खां, उस्ताद करीम खां, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, बाल गंधर्व, उस्ताद बुंदू खां, उस्ताद अहमद जान थिरकवा, उस्ताद बड़े गुलाम अली खां, उस्ताद बिस्मिल्ला खां, एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी, उस्ताद अली अकबर खां, पं. रविशंकर, बेगम अख्तर, निखिल बेनर्जी, पं. विश्वमोहन भट्ट, अमीर खुसरो, जायसी, कुतुबन, रसखान, अब्दुर रहीम खानखाना, गुरु नानकदेव जी, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, अष्टछाप कवि, मीराबाई, कबीरदास, नामदेव एक सुदीर्घ व समृद्ध परंपरा विद्यमान है।”⁵

कवीन्द्र गुरु रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार ---“साहित्य अपने पाठक को मर्मस्पर्शी बना सकता है किंतु केवल आनंद का आनंद विकार रहित प्रसन्नता संगीत के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। आध्यात्मिक अनुभूति की यह प्रथम सीढ़ी है।”⁵ जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार--- “श्रेष्ठ संगीत हमें अपने से अपने दैनंदिन दुःखों से जीवन की क्षुद्रता से ओर चिंताओं से दूर ले जाता है अथवा जीवन के दुःखों को सहन करने की सामर्थ्य भी देता है इसी तरह वह स्फूर्ति और उत्साह भी देता रहता है।”⁶

उत्तम संगीत के द्वारा व्यक्तिगत राग-द्वेष का शमन करके मन में अवस्थित रजो गुण और तमोगुण का नाश कर सत्व गुण का आविर्भाव किया जा सकता है। उस्ताद अमजद अली खाँ ने संगीत की अद्भुत शक्ति के बारे में बताते हुए कहते हैं---“संगीत ही आदमी को सही इंसान बनाता है उसे संवेदनशील बना सकता है दूसरों के दिल में मोहब्बत पैदा

कर सकता है...संगीत तो बड़े-बड़े संगदिल को पत्थर से भी कठोर को रहमदिल बना सकता है संगीत को दिल की गिजा कहा गया है...।"7 संगीत मानसिक तनाव को कम करके शांति प्रदान करते हुए मानसिक रूप से सबल बनाता है। संगीत मानव को आपसी-प्रेम,बंधुत्व,अनुशासन,एकता,मानवता,सद्भावना,आपसी-सहयोग,सदाशयता और संवेदनशीलता आदि गुणों से नवाजता है।संगीत में जहाँ एक ओर गुरु-शिष्य परंपरा व गुरु-परिवार परंपरा के माध्यम से गुरु-शिष्य के बीच अभिभावक अथवा पिता-पुत्रवत् संबंध विकसित किए और दूसरी ओर हिन्दू गुरु के मुस्लिम शिष्य और मुस्लिम गुरुओं के हिन्दू शिष्य बना कर साम्प्रदायिक संकीर्णताओं को तोड़कर मानवता की मिसाल कायम की हैं।संगीत ने अमीरी-गरीबी व वर्ग भेद को समाप्त कर योग्यता को उचित स्थान दिलाया।संगीत को विद्याध्ययन से अधिक साधना और तपस्या से भी अधिक ईश्वर से तादात्म्य कराने का मार्ग बताया गया है। इन सबके अतिरिक्त संगीत का अन्यत्तम योगदान चिकित्सा व उपचार के क्षेत्र में भी है। संगीत का मानव-मन,मस्तिष्क,इंद्रियों,धमनियों,फेफड़ों,शिराओं के साथ ही शरीर व विचारों पर जितना प्रभावकारी होता है उतना ही विविध जीव-जंतुओं और पेड़-पौधों व वनस्पतियों के उपचार,गुण,विकास और नियंत्रण पर भी पड़ता है।विविध प्रकार के रोगों के उपचार के लिए ऐलोपैथी, होम्योपैथी,यूनानी,आयुर्वेद,नेचुरल पैथी की विधियों के द्वारा उपचार किया जाता था परंतु अब चिकित्सा की नवीन विधि संगीत-पैथी अर्थात् संगीत-चिकित्सा और अंग्रेजी में म्यूज़िक थैरेपी कहा जाता है। प्राचीन काल में इस विधि को मानस-चिकित्सा कहा जाता था।

संगीत पत्रिका में डॉ.काशी कुमार कर्ण के अनुसार---मानव मस्तिष्क से वैमत्य को हटाकर शान्ति एवं सहमति की स्थापना करना ही म्यूज़िक थैरेपी या संगीत-चिकित्सा है।मन- मस्तिष्क के भीतर उठने वाले भावनाओं और दुर्भावनाओं के तूफान को मधुर संगीत के द्वारा शांत किया जाता है।

शेक्सपियर कहते हैं---*The man, who has no music in himself, nor in his moods, with concord of sweet sound, is fit for transons, strateegens.* शेक्सपियर के कथनानुसार "यदि व्यक्ति में संगीत या म्यूज़िकल कोनकोर्ड (स्वरावलियाँ) नहीं हैं,तो वह केवल चालाक,धूर्त और अपराधी होता है।उसका मूल कारण मन में उपजने वाली विकृतियाँ। इसलिए मनोचिकित्सक और मनोवैज्ञानिकों ने मन को इन निर्र्थक भावों को नियंत्रित करने और सुकून देने के लिए एवं मधुर संगीत द्वारा मनोरोगों को शांत करने के लिए संगीत को चिकित्सा -जगत से जोड़ने का प्रयास किया है"।8

संगीत मन-मस्तिष्क की उथल-पुथल को शांत कर आनंद प्रदान करता है।विचारों व भावों को परिष्कृत करता है।संगीत का रियाज़ एक ऐसा व्यायाम है जिसमें सात स्वरों के द्वारा विविध अलंकारों से न केवल श्वसन-तंत्र बल्कि संपूर्ण तंत्रिकायें भी सक्रिय हो उठती हैं। जो प्राणदायिनी व आनंददायिनी का काम करती हैं। वैदिक युग में संगीत चिकित्सा पद्धति का उपयोग किया जाता था प्रसिद्ध मनोचिकित्सक व संगीतकार डॉ. भास्कर आजकल पत्रिका का 2008 संस्करण का संदर्भ देते हुए लिखते हैं---"*वास्तविकता यह है कि भारतीय संगीत-चिकित्सा मुख्य रूप से इस विषय की जनक है।हमारे देश में वैदिक काल से ही संगीत-चिकित्सा पद्धति का इस्तेमाल होता आ रहा है।मध्यकाल में यह विलुप्त प्राय हो गई थी, लेकिन वर्तमान समय में इस विषय पर पुनः शोध प्रारम्भ हुए हैं*"।9

भारतीय गुरुकुल परंपरा व शास्त्रीय संगीत पद्धति मनुष्य के मनस् व एन्द्रिय परिष्कार में अति सहयोगी सिद्ध होती थी।जिसके अंतर्गत यज्ञ आदि में विविध मंत्रोच्चारण ओऽम शब्द के उच्चारण,स्तुति-गान,वंदन,कीर्तन,जाप आदि क्रियाओं से शरीर के अंग-प्रत्यंगों और मस्तिष्क की शिराओं में स्पंदन ऊर्जा का संचार होता ।हमारे यहाँ तो शिशुओं

को सुलाने के लिए माँ हमेशा से ही लोरी सुनाकर कुछ क्षणों में ही सुला देती है जो इसका प्रमाण है कि संगीत अनिद्रा को दूर करने का अचूक रामबाण है। विविध रोगों के उपचार व शमन में भी संगीत का महत्वपूर्ण योगदान है।
*“कहा जाता है कि प्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा ने राग पूरिया सुनाकर राजा राजसिंह की अनिद्रा की बीमारी दूर की थी।”*¹⁰ पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने प्रसिद्ध मृदंग वादक कुदऊ सिंह का उदाहरण देते हुए लिखा है---*“गणेश परण बजाकर प्राण लेने वाले हाथी को वश में कर लिया था।”*¹¹

एम.आई.एम. संगीत चिकित्सा विभाग के चिकित्सक डॉ. जे. पाल ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं---

*“Music exercises a wonderfully curative effect on diseased persons. It immediately effects the heart, the most vital organs of the body. It is a kind of wine which reaches the heart through the ears and glands the sad man.”*¹²

संगीत की अद्भुत शक्ति से व्यक्ति के मन, मस्तिष्क, शरीर, हृदय व भावनाओं को प्रभावित कर उसके मूड में त्वरित परिवर्तन करता है। संगीत हमारे चेतन व अवचेतन अंगों पर सकारात्मक प्रभाव डालता है। चिकित्सक डॉ. जे. पाल ने टायफाइड के एक मरीज का सितार-वादन से उपचार किया—*“एक मरीज को बहुत तेज टायफाइड हुआ, वह इतना शिथिल हो चुका था कि उसके दाएँ हाथ की नाड़ी धीमी-धीमी चल रही थी। पूछने पर बताया गया कि उसकी दाहिनी कनपटी फट गई थी परिणामतः उसका बाँया अंग मर चुका था। उस रोगी सितार वादन सुनाया गया, थोड़ी देर में उसके बाएँ हाथ की नाड़ी चलने लगी। जब सितार वादन बंद कर दिया, तो नाड़ी भी बंद हो गई, सितार पुनः सुनाया गया, नाड़ी पुनः चलने लगी।”*¹³ इस तरह वह मरीज सितार वादन सुनने से ठीक हो गया। मनुष्य की मनोविकार व मनोवृत्तियाँ ही उसका नैतिक पतन करते हुए उसके स्वास्थ्य में विकार उत्पन्न करते हैं। आधुनिक जीवन शैली व खान-पान ने भी मानव जीवन विशेष रूप से प्रभावित किया है। विदेशों में भी इस विषय पर अनेक शोध हुए हैं ---

*“संगीत का वही असर होता है जो 2.5 मिली ग्राम वेलियम (नींद लाने की दवा) का होता है। वाशिंगटन में दो अस्पतालों के इन्सैंटिव केयर यूनिटों में धीमा-धीमा मधुर संगीत बजाया गया, तो पाया कि हृदय की बीमारी के रोगियों का रक्तचाप कम हुआ और उनकी व्यग्रता और तनाव में कमी पाई गई। इसी तरह जापान में भी संगीत के द्वारा शल्य-चिकित्सा में सफलता मिली।”*¹⁴

संगीत से न केवल हृदय की धड़कन को संतुलित किया जा सकता है बल्कि रोग प्रतिरोधक क्षमता को भी बढ़ाया जा सकता है। बल्कि *“अमेरीका का कुछ दंत चिकित्सक तो दांत उखाड़ते समय भी संगीत तरंगों का प्रयोग करते हैं, वे विद्युत यंत्रों को बजाकर एक विशेष प्रकार की संगीत तरंगें उत्पन्न कर देते हैं कि रोगी का मन उसी में तन्मय है जाता है और वह बिना किसी प्रकार के शून्यकारक इंजेक्शन लगाए ही दांत उखाड़ देते हैं”*¹⁵ धुनिक ऐलोपैथी चिकित्सा शास्त्री डॉ. लुई पेरमोन के अनुसार -----*“थायरॉइड ग्रंथी न केवल रक्तचाप को नियंत्रित करती है वरन् प्रेम व सहानुभूति बढ़ाने एवं असामान्य व विकृत स्थिति में ईर्ष्या व द्वेष उभारने में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, थायरॉइड से निकलने वाला स्त्राव थायराक्सीन का अनुपात सही हो इसके संतुलन बिगड़ने से न केवल रक्त उष्मा और गति में गड़बड़ होती है, वरन् तरह-तरह की भावनाओं संबंधी विकृतियों का भी मनुष्य शिकार बन जाता है।”*¹⁶ संगीत द्वारा थायराक्सीन के स्त्राव को नियंत्रित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त संगीत का प्रभाव वनस्पतियों व जीव-जंतुओं पर भी पड़ता है। *“संगीत का सशक्त माध्यम ध्वनि है। विभिन्न साधनों से ध्वनि-तरंगें उत्पन्न की जा*

सकती हैं। ये ध्वनि तरंगें पेड़-पौधों, वनस्पतियों को उत्तेजित कर उन्हें शीघ्र बढ़ने और उत्पत्ति हेतु प्रोत्साहित करती हैं। यह निस्संदेह सिद्ध है।”¹⁷

“सैंकड़ों वर्षों पहले चार्ल्स (डारविन विकासवाद) के प्रवर्तक ने बासून नामक वाद्य-यंत्र बजाकर संवेदनशील पौधों पर उत्तेजना का कई बार सफल प्रयोग किया।”¹⁸ पिछले सात साल से अण्णामलै विश्वविद्यालय का वनस्पति शास्त्र विद्यालय इस विषय में प्रयोग कर रहा है और यह सिद्ध कर चुका है कि ध्वनि तरंगों का वनस्पतियों की बाढ़ और उनके फलने-फूलने पर प्रभाव पड़ता है।”¹⁹

श्री मन्मथ राय के अनुसार----“एक दिन राजमार्ग पर कोई बाहर से आया हुआ कलाकार जोर जोर से चिल्ला रहा था कि “मैं लुट गया, हाय-हाय, मैं लुट गया। इस पर राजा ने पूछा- “तुम्हें किसने लूटा !” वह जवाब में कहने लगा कि ‘एक जंगली हिरण को गाना सुनाकर मैंने उसे अपने वश में कर लिया था। जब वह हिरण मेरे पास आ गया तो मैंने अपने गले का हार उतारकर उसके गले में डाल दिया। इतने में उधर से एक शेर आ गया। उसे देख हिरण जंगल में भाग गया।’ यह सुनते ही राजा ने संगीतज्ञ सोलकी को हार सहित हिरण पकड़ने का आदेश दिया और आचार्य सोलकी ने संगीत द्वारा यह काम कर दिखाया।”²⁰

संगीत का चमत्कारिक प्रभाव जीव-जंतुओं पर भी विशेष असरकारक होता है। उनको नियंत्रित करने और शांत करने में संगीत विशेष भूमिका निभाता है। “....संगीत के द्वारा मछलियाँ मोहित होकर इधर-उधर दौड़ना बंद कर देती हैं। वे आसानी से मछुओं के जाल में फँस जाती हैं... वेणु नाद सुनकर सर्प अपनी कुटिलता छोड़कर झूमने लगता है... विदेशों में गाय-भैंसों का दूध वक्त रेडियो सेटों, टेप-रिकार्डों का प्रयोग भी किया जाता है।... दुधारू पशु संगीत सुनकर अपेक्षाकृत अधिक दूध देते हैं। सील मछलियों का संगीत-प्रेम प्रसिद्ध है। घरेलू कुत्ते संगीत को पूरे ध्यान से सुनते और प्रसन्न होते हैं। वनविशेषज्ञ जॉर्ज हस्हे ने अफ्रीका के कांगों देश में चिंपाजी और गोरिल्ला वनमानुष को संगीत के प्रति रुचि रखने वाला पाया है। हाथी-घोड़ों को वाद्य-यंत्रों की ध्वनि पर नाचते देखा गया है। रीछ-बंदर भी ढपली पर अपने करतब दिखाते हैं। डॉ. हडसन शहद की मक्खियों को संगीत सुनाकर अधिक शहद इक्कड़ा करने वाला मानते हैं।”²¹

डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार----“हर कला का अपना माध्यम होता है। हर कला अपना स्थापत्य होता है, अपनी/चित्रमयी व्यंजना होती है। संगीत का माध्यम नाद है। नाद ऐसी संवेदनाओं को जगा सकता है, जिन/तक अन्य कलाओं की पहुँच मुश्किल होती है।”²²

संगीत के स्वरों व स्वर लहरियों में इतनी ताकत है कि उनके प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं रह सकता। देव हों या मनुष्य, पशु हों या पक्षी, कीट हों या पतंगे, पेड़ हों या पौधे संगीत सबको झूमने को मजबूर कर देता है। संगीत वनस्पतियों की गुणवत्ता बढ़ाने, विकास में कारगर साबित होता है। जिससे व्यक्तित्व के निखार के साथ ही व्यक्ति भावनात्मक व मानसिक रूप से मजबूत होकर आत्मविश्वासी, संवेदनशील व सहृदय बनाते हुए सर्वांगीण विकास करता है। अतः कहा जा सकता है कि संगीत जीव-जगत के लिए वरदान है।

संदर्भ व सहायक ग्रंथ

1. शार्ङ्गदेव, संगीत रत्नाकर, आनंदाश्रमुद्रालये आयसाक्षरैमुद्रयित्वा प्रकाशितम्, (श्लोक 1/21)

2. आचार्य शुक्ल रामचंद्र, 1958, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ - प्रकाशन शाखा सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, पृ. 11

3. प्रो. प्रसाद विश्वनाथ ,1973, कला और साहित्य प्रवृत्ति और परंपरा, हिंदी ग्रंथ अकादमी सम्मेलन भवन पटना ,पृ.2
4. संगीत कला विहार (मासिक), अक्टूबर 1987, पृ.310
5. संगीत (मासिक), अप्रैल 1975, पृ.26
6. संगीत (मासिक), अप्रैल 1975, पृ.54
7. वर्मा, केशव चंद्र, 1988, कोशिश संगीत समझने की प्रदीपन, प्रकाशन एकांश, 65, टैगोर टाउन, इलाहाबाद, पृ.178-179
8. डॉ. शर्मा, महारानी, 2014, संगीत-चिकित्सा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.2
9. डॉ. शर्मा, महारानी, 2014, संगीत-चिकित्सा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.3
10. अखंड ज्योति(पत्रिका), मई 1989, पृ.43
11. पं. ठाकुर, ओंकार नाथ, प्रणव भारती, पृ.33
12. डॉ. शर्मा, महारानी, 2014, संगीत-चिकित्सा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.64
13. संगीत (मासिक), अप्रैल, 1988
14. डॉ. शर्मा महारानी, संगीत-चिकित्सा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.78
15. डॉ. गौतम चमन लाल, 1984, नाद योग, प्रथम संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब(वेदनगर) बरेली, पृ.8
16. अखंड ज्योति(पत्रिका), मई 1989 पृ.41
17. डॉ. सिंह 'काव्या' लावण्य कीर्ति, 2009, संगीत सुधा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.28
18. डॉ. सिंह 'काव्या', लावण्य कीर्ति संगीत सुधा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.28
19. डॉ. सिंह 'काव्या', लावण्य कीर्ति, संगीत सुधा, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002, पृ.29
20. राय मन्मथ, अप्रैल 1988, प्राचीन भारतीय मनोरंजन, पृ.301, उद्धृत-1988, संगीत (मासिक), पृ.40
21. डॉ. श्रीवास्तव विद्या, मार्च 1988, संगीत का प्रभाव: प्राणियों और पेड़ों पर, संगीत मासिक, पृ.39-40
22. डॉ. शर्मा रामविलास, 2010, संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110002, आमुख, पृ. 5

समकालीन हिंदी नाटकों में जातिगत वर्चस्व और प्रतिरोध

ऋतु,
हिंदी विभाग,
कालिंदी महाविद्यालय
ritudrall@gmail.com

शोधसार - सन् 1980 के बाद भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं / इन परिवर्तनों ने समाज की सोचने-समझने की शक्ति को भीतर तक प्रभावित किया है / वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा दी गयी पहचान को अस्वीकार करते हुए दबे-कुचले वर्ग ने स्व की पहचान के लिए संघर्ष करना आरम्भ किया परन्तु वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा निर्मित सामाजिक संरचनाओं के भीतर जीवित विचार आसानी से गलने वाले सिक्के नहीं / विचार एक बार जो रूप धारण कर लेते हैं, सदियों तक उसी रूप में रहते हैं / समय के साथ कुछ ऊपरी परिवर्तन अवश्य होते हैं परन्तु यह विचार समाज के अंतर्मन में गहराई से पैठ होने के कारण पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो पते / भारतीय समाज से जातिगत वर्चस्व की अमर बेल को उखाड़ पाना सरल नहीं / समय के साथ जातिगत भेद-भाव का भी रूप बदला है / इस शोध-लेख का उद्देश्य जातिगत विमर्श के विभिन्न पहलुओं और उसमें होने वाले परिवर्तनों को समकालीन हिंदी नाटकों के संदर्भ में देखना है / मैंने इस शोध-लेख के माध्यम से समकालीन समाज की जटिलताओं के मध्य जातिगत वर्चस्व की संरचनाओं को अनावृत करने का प्रयास किया है /

भारतीय सामाजिक संरचना लगभग पाँच हजार वर्ष पुरानी है जो अपने भीतर अनेक जटिलताओं को समेटे हुए है । विश्व के अधिकतर समाज वर्ग के आधार पर बंटे हुए हैं लेकिन भारतीय समाज वर्ग, वर्ण, जाति, लिंग इत्यादि अनेक आधारों में बँटा हुआ है । भारतीय सामाजिक संरचनाओं में असमानता के अनेक धरातल हैं । अगर इस संदर्भ में यह कहा जाए कि भारत में छोटी से छोटी कही जाने वाली जाति भी अपने से अधिक छोटी जाति को ढूँढ ही लेती है तो कुछ अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिये । भारत में जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था के अवशेष रूप में अमरबेल के समान सदियों से चली आ रही है । समकालीन विमर्शों ने इस बेल को ऊपरी तौर पर झकझोरा अवश्य है लेकिन इसकी जड़े हमारे समाज में बहुत गहरी पैठ बनाये हुए हैं जिन्हें खोदकर, समाज से बाहर निकाल फेंकना अभी भी दूर की कौड़ी है क्योंकि जाति रूपी इस बेल का संरक्षण धर्म एवं राजनीति रूपी बाड़ लगाकर किया जा रहा है ।

भारतीय समाज में जातिगत वर्चस्व की जड़ें वर्ण व्यवस्था में हैं । अतः वर्ण व्यवस्था के विषय में जानना आवश्यक है । के. दामोदरन ने वर्ण व्यवस्था का उदय समाज की आदिम-गण व्यवस्था की उत्तरकालीन अवस्था में माना है । प्रारंभिक वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की द्योतक थी । प्रत्येक वर्ण के अपने विशिष्ट कर्तव्य और दायित्व थे । अधिकारों और दायित्वों के बीच का यह विभाजन ही वर्गों के बीच संबंधों को निर्देशित करता था और समग्र रूप से सामाजिक ढाँचे को स्थिरता प्रदान करता था । ब्राह्मणों को अत्यंत सम्माननीय एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । वे ही सामाजिक रीति-रिवाजों और कर्मकांडों के संरक्षक थे । वेदों का अध्ययन और अध्यापन, धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकांड, यज्ञ कराना और पुरस्कार एवं भेंट स्वीकार करना – ब्राह्मणों के लिए निर्धारित कार्य थे । वे देवताओं के समकक्ष माने जाते थे; वे पृथ्वीवासी देवता (भूसुर) थे । उनके अधिकार इतने पवित्र माने जाते थे कि कालांतर में वे दूसरों के श्रम का शोषण कर, ऐशो-आराम की जिंदगी बिताने लगे और स्वयं को मालामाल करने के लिए आज़ाद हो गए – और यह सब किया गया देवताओं के नाम पर । क्षत्रियों को जनता की देखभाल और उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व

दिया गया एवं उन्हें वेद-पाठ करने के साथ-साथ उपहार तथा पुरस्कार लेने का भी अधिकार था। व्यापार, पशुपालन और खेतीबाड़ी का काम वैश्यों की ज़िम्मेदारी थी। इन तीनों वर्णों की सेवा सुश्रुषा करना, वह भी बिना किसी प्रकार का असंतोष प्रकट किए अथवा मीन-मेख निकाले – शूद्रों का काम था।

मनुस्मृति एक

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्रह्मणामकल्पमत् ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य सम सतः ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथ कुसीन्द च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥

एकमेव तु शुद्रश्च प्रधुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां सुश्रुषामनसुयया ॥”¹

वर्ण व्यवस्था में शूद्रों को वेद-पाठ और धार्मिक ग्रंथों को पढ़ने की अनुमति नहीं थी। उन्हें अछूत माना जाता था। कर्म के आधार पर निर्मित व्यवस्था धीरे-धीरे जाति का रूप लेने लगी। जब शूद्रों को पुस्तकें पढ़ने का हक नहीं था, ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं था तो आर्थिक असमानता और पिछड़ापन समाज में बढ़ने लगा। जिसने धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था के रूप में विकराल रूप धारणा कर लिया। उच्च वर्गीय लोग अपनी पुरानी स्थिति से ही चिपके रहे जिसमें उन्हें प्रभुत्व प्राप्त था और जिसे वे स्वयं देवताओं द्वारा प्रदत्त समझते थे। वे उन्हीं बातों की शिक्षा देने में जुटे रहे जिन्हें वह शाश्वत समझते थे। अपने अनुष्ठानों और कर्मकांडों के जरिए सामान्य जनों का शोषण जारी रखा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण का ही कार्य करे और शूद्र का पुत्र शूद्र का ही पेशा अपनाने की बात कही गयी है और ऐसा करने वाले के लिए मरणोपरांत स्वर्ग-गमन का प्रावधान भी किया गया है। उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। विभिन्न वर्णों के द्वारा धर्मों का पालन नहीं किया गया तो लोक नष्ट हो जाएगा –

स्वधर्मः स्वर्गीयानान्त्याय च,

तस्यातिक्रमे लोकः संडकरादृच्छिद्येत ।

तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्

स्वधर्मं सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ - (अर्थशास्त्र १/२/९/ - १०) ”²

(अर्थात् अपने वर्ण का धर्म पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसका पालन न करने से वर्णों और कर्मों में संकरता आती है जिससे लोक का नाश हो जाता है इसीलिए राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को अपने वर्ण धर्म से इधर उधर न होने दे। अपनी प्रजा को वर्ण-धर्म और वर्ण-कर्म में प्रवृत्त करने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है)

वर्ण हितों को सुरक्षित रखने के लिए स्वर्ग का प्रलोभ और समाज के नष्ट होने का डर दिखाया गया है। इन्हीं प्रयासों के चलते धीरे-धीरे वर्ण व्यवस्था, जाति-व्यवस्था का रूप धारण करती चली गई। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय अपने को कर्म के आधार पर श्रेष्ठ और शूद्र को नीच के रूप में व्याख्यायित करने लगे। उच्च जातियों का वर्चस्व समाज में आर्थिक और धार्मिक स्थितियों के कारण बना है। भारत में धर्म की अहम भूमिका है और जाति-व्यवस्था धर्म की ही देन है जिसे केवल अर्थ के आधार पर न तो समझा जा सकता है और न ही खत्म किया जा सकता है। व्यवसाय को वंशानुगत बनाना, वर्ण को जाति में बदलना है। कहना होगा कि अंतर्विवाह और अंतर्भोज का निषेध जाति-व्यवस्था को मजबूत करता है इसी कारण कोई वर्ग पूरी तरह से अपनी सीमाओं में बंद हो जाता है। जन्म के आधार पर जाति-निर्धारण ने गुण के महत्व को खत्म कर दिया, केवल जन्म ही व्यक्ति के मूल्यांकन का मापदंड बन गया। धर्म की मोक्षकामी अवधारणा, कर्म-फल, पुनर्जन्म आदि के आधार पर जाति-व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया। जाति के चक्र में फँसा मनुष्य सब कुछ जानकार भी आंतरिक रूप से इनका विरोध नहीं कर पाता। यह सब उसे बैचैन ज़रूर करते हैं लेकिन प्रतिरोध का सामर्थ्य देने में अवरोधक सिद्ध होते हैं। जाति-व्यवस्था भारतीय सत्ता तंत्र की धुरी है। एक सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता है जिसे सांस्कृतिक वर्चस्व की ताकत प्राप्त है।

दलित और सामाजिक अवमानना

दलितों को दलित बनाए रखने में सामाजिक अवमानना की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। अवमानना का शाब्दिक अर्थ है - अपमान या तिरस्कार। गोपाल गुरु अवमानना के विषय में कहते हैं "उत्पीड़क अपने प्रबल वर्चस्व के ज़रिये उत्पीड़ित को हीन, गिरा हुआ, विकृत, अभिशप्त और दलितों के मामले में अछूत होने की मान्यता देता है। अवमानना की यह अभिव्यक्ति सार्वजनिक और प्रत्यक्ष होती है। यह अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष तब हो जाती है जब राज्य और नागरिक समाज उत्पीड़ित को सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार दिखता है।"3 अवमानना की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति से ज्यादा खतरनाक है जो अंतर्मन में लंबे समय तक चलने वाली हिंसा का सूक्ष्म रूप है। हिंसा केवल शारीरिक बल का प्रयोग ही नहीं है बल्कि जाति, नस्ल, वर्ग, राष्ट्र, धर्म, संप्रदाय आदि के आधार पर स्वयं के लिए श्रेष्ठताबोध और अन्य के लिए अवमानना या नीचा समझना भी हिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। श्रेष्ठताबोध की यह भावना हिंसा की प्रवृत्ति से प्रेरित और उसे पुष्ट करने वाली भावना है।

दलित वर्ग की सामाजिक अवमानना भारतीय समाज में साधारण सी घटना मानी जाती है। समाज द्वारा कदम कदम पर अपमानित होने के कारण दलित-वर्ग में हीनता की मनोग्रंथि का जन्म होता है। हीनताबोध के कारण ही दलित, स्वयं को दलित मानने लग जाते हैं और वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा निर्धारित नियमों को सहर्ष स्वीकार करता है। वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से की गई अवमानना दलित वर्ग को आत्मगिरिमा से पूरी तरह वंचित कर डालती है। यह अवमानना उत्पीड़ित की पीड़ा को और भी ज्यादा बढ़ा देती है। यह अवमानना उसे अंदर तक तोड़ देती है। स्वदेश दीपक के नाटक 'कोर्ट मार्शल' के पुरुष पात्र रामचंद्र के साथ भी बी.डी. कपूर द्वारा किया गया व्यवहार इसी सामाजिक अवमानना को अभिव्यक्त करता है। रामचंद्र को सजा के तौर पर सबके सामने परेड ग्राउंड में कपूर को सौ बार सैल्यूट करने के लिए मजबूर किया गया। रामचंद्र को नीचा दिखाने के लिए सबके सामने कपूर का यह व्यवहार रामचंद्र के आत्मविश्वास को तोड़कर उसमें हीनता बोध को जन्म देने का ही प्रयास है। कपूर द्वारा रामचंद्र को गालियाँ देना और सबके सामने उसे अपमानित करना रामचंद्र के अंतर्मन में शोषण की संरचनाओं

को बैठाने का ही प्रतीक है। बिकास राय जब बलवान को गवाही के लिए बुलाता है तो पता चलता है कि कैसे कपूर ने रामचंद्र पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उसकी अवमानना की। बलवान सिंह कहता है “एक दिन कैप्टन साहब के घर कुछ मेहमान आए हुए थे। झाड़ंगरूम में ही एक छोटी बच्ची ने पोटी कर दी। कैप्टन साहब ने पोटी साफ करने के लिए कहा। उसने इंकार कर दिया।....कैप्टन कपूर ने सब मेहमानों के सामने उसे कहा – ‘जात का चुहड़ा और टट्टी उठाने में शर्म आती है ! तुम्हारे पुरखे पुश्तों से हम लोगों की टट्टी की टोकरी सिर पर उठा रहे हैं।”⁴

इस प्रकार का व्यवहार किसी भी मनुष्य में हीनता बोध को पैदा कर सकता है। कपूर यह चाहता था कि रामचंद्र भीतर तक टूट जाए क्योंकि कपूर सामाजिक दृष्टि से उच्चता-बोध की ग्रंथि से ग्रस्त था। वह रामचंद्र द्वारा दौड़ में हराए जाने को बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था और जो कुछ भी कपूर द्वारा किया गया वह सब रामचंद्र को मानसिक रूप से तोड़ने एवं उसे गुलाम बनाने का प्रयास था। रामचंद्र सामाजिक अवमानना सहकर गहरी पीड़ा को झेल रहा था और इस पीड़ा से मुक्ति का रास्ता उसने कपूर को मरने का प्रयास करके किया।

रामचंद्र बेकसूर और बेगुनाह था मगर फिर भी कपूर द्वारा किए जा रहे अत्याचारों को झेलने के लिए विवश था। जब उसकी सहनशक्ति जवाब दे जाती है तो प्रतिरोध स्वरूप रामचंद्र, कपूर को गोली मारने का प्रयास करता है जो उसके मित्र को लग जाती है। रामचंद्र सामाजिक अवमानना का प्रतिरोध करने की सजा कोर्ट मार्शल के रूप में पाता है। रामचंद्र द्वारा लिया गया यह कदम दलित-प्रतिरोध का ही एक रूप है जो उच्चताबोध की ग्रंथि से ग्रस्त लोगों को एहसास करवाता है कि रामचंद्र जैसे दलित भी इंसान होते हैं। ‘अवमानना’ असमान शक्ति संबंधों में ही घटित होती है। कपूर सेना में, रामचंद्र से बड़ी पोस्ट पर आसीन है इसीलिए रामचंद्र को वह अपना अर्दली नियुक्त करवाता है। उसे कदम-कदम पर अपमानित करता रहता है। गोपाल गुरु कहते हैं “अवमानना प्रायः उस समय होती है जब उसका शिकार उसके विमर्श को स्वीकार कर लेता है और उत्पीड़क अवमानना के जरिये अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता है।”⁵ सार्वजनिक रूप से रामचंद्र के साथ कपूर द्वारा किया गया गाली-गलौज अपना वर्चस्व स्थापित करने के इरादे को प्रकट करता है। उत्पीड़क अपशब्दों के जरिये उन्हें बताना चाहता है कि वे चुनौती देने के बजाए औकात में रहे तो बेहतर होगा।

दलित सामाजिक दृष्टि से भले ही अवांछित हो लेकिन भौतिक रूप से समाज ने उनकी उपयोगिता को सदैव माना जाता है। छुआछूत की विचारधारा ने दलितों को सामान्य मानवीय संसर्ग से सर्वथा वंचित करके गाँव की परिधि पर धकेल दिया था। जब उन्होंने उस परिधि से निकालकर अपना हक लेने या अपने अधिकारों की बात की तो रामचंद्र के समान ही उन्हें भी अनेक प्रकार की प्रताड़नाओं और अवमानना का सामना करना पड़ा है। उच्चताबोध वाले लोगों से तिरस्कार पाकर आत्मकुंठा, घुटन और पीड़ा को झेलना पड़ा है। ध्यातव्य रहे कि सामाजिक रूप से की गई अवमानना पीड़ित को तो तोड़ती ही है लेकिन साथ ही यह अन्य लोगों को भी नसीहत देती है कि वह आवाज़ न उठाये अन्यथा उनका अंजाम भी यही होगा। सामाजिक अवमानना लोगों के मन में भय और डर उत्पन्न करने का कारण भी बनती है। नरेंद्र मोहन का सुप्रसिद्ध नाटक ‘अभंग गाथा’ में सींग ब्राह्मण और डींग ब्राह्मण के संवाद सामाजिक अवमानना को और स्पष्ट करता है –

सींग ब्राह्मण : (बीच में उछलकर) अरे शूद्र ‘यही’ ‘यही’ क्या ?

डींग ब्राह्मण : अरे नीच, कुछ नहीं आवे तो ‘वही’ ‘वही’ बोल।”⁶

इस प्रकार की अवमानना दलित-वर्ग में हीनता बोध भरने का प्रयास है। उल्लेखनीय है कि सामाजिक अवमानना में भाषा की बहुत प्रभावशाली भूमिका रहती है या कहें तो भाषा के माध्यम से सामाजिक अवमानना अपने बहुत ही प्रभावशाली रूप में कार्य करती है। गोपाल गुरु ने भाषा की इस भूमिका के बारे में कहा है “भाषा के आधार पर अवमानना का एक विमर्श तैयार हो जाता है जिसके तहत दलितों के प्रति एक कृपा भाव अपनाया जाने लगता है। कहा जाता है कि दलित होने के बावजूद तुम इतनी अच्छी अंग्रेजी बोलते हो ! यह वक्तव्य किसी की योग्यता की आपत्तिजनक सराहना की मिसाल नहीं तो और क्या है ? दलित के कौशल को ईमानदारी से मान्यता देने के बजाये यह वक्तव्य उसे जाति-प्रथा में उसकी नीची हैसियत की याद दिला देता है।”⁷

दलित को सार्वजनिक रूप से अपमानित करता वर्चस्वशाली वर्ग उसके सम्पूर्ण समुदाय को निशाना बना रहा होता है। किसी एक के साथ किया गया दुर्व्यवहार सम्पूर्ण समुदाय में भय का सृजन करता है। हरियाणा में गोहाना और मिर्चपुर कांड इस तथ्य को सटीकता से व्यक्त करती हैं। “अवमानना के ऐसे भीषण तरीकों का इस्तेमाल करके उत्पीड़क समुदाय दलितों को स्थायी रूप से दमित मानसिकता का शिकार बना देना चाहते हैं। बेहद चालाक किस्म के उत्पीड़क तो दलितों को अपने सामने झुकाने के लिए प्रकट दमनात्मक तरीकों का सहारा भी नहीं लेते। वे अन्य वैचारिक और मनोवैज्ञानिक हथकंडों के जरिये उनकी चेतना को अपने शिकंजे में कर लेते हैं। वे कभी मेहरबान होकर और कभी टुकड़ा फेंक कर उनकी अधीनस्थता सुनिश्चित करते हैं।”⁸

इस प्रक्रिया में उत्पीड़क परोपकारी की तरह सामने आता है और उसकी मेहरबानी का फायदा उठानेवाला दलित उसके वर्चस्व को पुष्ट करने के औज़ार में बदल जाता है। लगातार होने वाली अवमानना अपने शिकार को दिमागी रूप से जड़ कर देती है। गोपाल गुरु लिखते हैं कि “अवमानना अपने शिकारों को चेतना के स्तर पर पूरी तरह पक्षाघात से पीड़ित कर देती है।”⁹ रामचंद्र इसका उदाहरण है जो कपूर द्वारा किए जा रहे अत्याचारों और शोषणों को इसीलिए झेलता रहता है क्योंकि वह मानसिक रूप से जड़ हो चुका था। उसकी चेतना शून्य हो चुकी थी।

परंपरागत मूल्यों का प्रतिरोध

हिंदू समाज की जाति-व्यवस्था रबड़ से भी अधिक लचीली और इस्पात से भी अधिक मजबूत है। वह भारतीय समाज के इतिहास की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप स्वयं को ढालकर आज तक जीवित है। यह प्रत्येक युग में अपना आवरण बदलती रही है। समय के साथ-साथ यह व्यवस्था इतनी जटिल हो गई है कि यह प्रत्यक्ष रूप से कम और अप्रत्यक्ष रूप से अधिक काम करती है। जाति-व्यवस्था का यह नवीन रूप समाज के लिए अधिक घातक है। रमणिका गुप्ता वर्चस्वशाली शक्तियों के षड्यंत्रों पर टिप्पणी करते हुए कहती हैं “यह अभिजात या सवर्ण संस्कृति, राजा-राजतन्त्र-सामंत-बुद्धिजीवी-व्यापारी व विशिष्ट लोगों की हित साधक रही है। उसने पिछड़ों, दलितों और आदिवासियों को अधिकार-विहीन ही नहीं स्वाभिमान-विहीन भी बना दिया। भाग्य और पूर्वजन्म पर आधारित सोच का गुलाम बनाकर इस अभिजात संस्कृति ने उन्हें गुलामी को सहर्ष स्वीकार करने की हद तक ब्रेन-वॉश (Brain wash) कर दिया और अपने लिए सुविधाएँ जुटाने का व्यूह रचती रहीं।”¹⁰

परंपरा के नाम पर दलितों को न पाठशाला में जाने का अधिकार था और न मंदिर में प्रवेश करने का। इन अधिकारों की बात छोड़ो परंपरा, समाज, संस्कृति और धर्म के नाम पर दलितों को केवल वस्तु मान लिया गया जिनकी भौतिक

उपस्थिति समाज के लिए उपयोगी है परन्तु समाज में उनका कोई स्थान नहीं है। 'ईश्वर ने उन्हें ऐसा बनाया है', 'भगवान ने उन्हें अन्य लोगों की सेवा करने के लिए ही बनाया है' आदि मिथ्या चेतनापरक मूल्यों एवं परम्पराओं के नाम पर दलितों का शोषण होता रहा है। परंपरा और मूल्यों के नाम पर हो रहे इस सामाजिक अन्याय को दलितों ने शताब्दियों तक सहा है। आंबेडकर ने इन शोषणकारी परम्पराओं पर प्रश्नचिह्न लगाया। सदियों से जो अन्याय हम सहते आ रहे हैं, वह परंपरा नहीं हो सकती। भारतीय संविधान ने सबको समानता का अधिकार देकर इस शोषणकारी व्यवस्था को संवैधानिक धरातल पर समाप्त करने का प्रयास किया है। यद्यपि सामाजिक धरातल पर यह असमानता ज्यों-की-त्यों आज भी बनी हुई है। परंपरा और मूल्यों से उत्पन्न उच्चताबोध आज भी सवर्णों की मानसिक संरचना में बसा हुआ है और दलितों की मानसिक संरचना में स्वयं को दलित मानने का हीनताबोध आज भी जीवित है। इन परिस्थितियों में समानता कैसे संभव है ?

परंपरा ने ही हमारे भारतीय समाज में यह मान्यता स्थापित की है कि दलितों का जन्म दूसरों की सेवा करने के लिए ही हुआ है। सवर्णों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों को चुपचाप, बिना किसी प्रतिकार के सहने में ही उनकी भलायी है। समाज की वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा लिए गये सभी निर्णयों को सहर्ष स्वीकार करते हैं क्योंकि अन्य वर्गों को वह अपने से श्रेष्ठ मानने लग जाते हैं। इस प्रकार के विभिन्न परंपरागत मूल्यों का प्रतिरोध हमें समकालीन नाटकों में दिखाई देता है। स्वदेश दीपक के नाटक 'कोर्ट मार्शल' का दलित पात्र रामचंद्र (सेना में अर्दली के पद पर है) इस प्रतिरोध का सशक्त उदाहरण है। रामचंद्र को जब कोर्ट मार्शल के लिए ले जाया जाता है तो उससे पूछताछ के दौरान, बिकास राय रामचंद्र का पक्ष लेते हुए कहते हैं "हाँ जानता हूँ मैं। नियम और कानून केवल छोटे लोगों के लिए होते हैं। कहाँ मानते हैं रुज़ को बड़े और ताकतवर लोग। सेवादार तो अफसर का निजी नौकर, मेरा मतलब पर्सनल सरवेंट बन जाता है। बाज़ार से सामान लाओ, बच्चों को स्कूल छोड़ने जाओ, खाना बनाओ, खाना लगाओ, मैम साहब के कपड़े प्रैस करो और साहब को हमेशा खुश करो। लेकिन इसमें आपका क्या दोष। आप तो अपने से बड़ों की शिकायत तक नहीं कर सकते।" 11

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि रामचंद्र को बिकास राय यह समझाने की कोशिश करते हैं कि अगर कोई बड़ा अफसर तुम्हारा शोषण करता है तो तुम्हें उसकी शिकायत करनी चाहिए जो दलितों को उनके अधिकार बोध और चेतना की तरफ संकेत करता है। रामचंद्र को कई बार जातिसूचक शब्दों से कपूर साहब द्वारा बुलाया जाता है। कभी उसे 'चूहड़ा' और 'भंगी' कहकर पुकारा जाता था तो कभी उसे 'चूहड़े दे पुत्तर' कह कर अपमानित किया जाता था। यहाँ तक कि उसके गोरे रंग के कारण उसकी माँ के चरित्र पर भी अनेक आरोप रामचंद्र के सामने ही लगाये जाते थे। बिकास राय कहते हैं "सरकारी वकील ठीक कहते हैं। रामचंद्र को फाँसी की सजा मिलनी चाहिए। अपने देश की रक्षा की शपथ लेने के बावजूद उसने कर दिया इनकार एक अफसर की बच्ची की गन्दगी उठाने से। अपने देश की रक्षा की शपथ लेने के बावजूद उसने हराम की सट्ट जैसी साधारण गाली खाने से कर दिया इनकार। अपने देश की रक्षा की शपथ लेने के बावजूद उसने अपने कान, अपनी आँखें बंद करने से कर दिया इंकार। उसे दंड मिलना चाहिए। मृत्यु दंड। उसे आर्मी एक्ट 69 तथा इंडियन पीनल कोड की दफा 302 के अनुसार हर हालत में दंड मिलना चाहिए। मृत्यु दंड बार-बार मृत्यु दंड।" 12

रामचंद्र के इस प्रतिरोधी कदम से अन्य लोगों के हौसलें भी बुलंद हुए हैं। यह सिर्फ अकेले रामचंद्र का उन सड़ी-गली परम्पराओं के विरुद्ध प्रतिरोध नहीं है बल्कि यह आवाज़ तो उस सम्पूर्ण दलित-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो कई पीढ़ियों से पददलित होता आ रहा है। युवा रामचंद्र का यह प्रतिरोध कई मायनों में खास है और जो कार्य अभी तक दलितों की पुरानी पीढ़ी करने में असफल रही थी आज यह रामचंद्र की पीढ़ी करने को आतुर है। नाटक से ही उदाहरण लिया जाए तो नाटक में भी अनेक नौजवानों में रामचंद्र ने प्रतिरोध का साहस भर दिया है –

“गार्ड : सर ! कार पार्किंग की जगह खड़ी करें | दरवाजे के आगे नहीं | सी.ओ.

साहब का ऑर्डर है |

कपूर : (चाबियाँ उसकी तरफ बढ़ाकर) तो तुम पार्क कर दो | मुझे पहले ही देर हो चुकी है |

गार्ड : खुद खड़ी करो | मैं किसी का नौकर नहीं | भारत सरकार का नौकर हूँ |

कपूर : तमीज से बोलो | जानते नहीं अफसर का आर्डर न मानने की सजा | मैं तुम्हारी रिपोर्ट करूँगा |

गार्ड : (ज़हरीली आवाज़ में) मुझे रामचंद्र समझने की भूल मत करना | मेरा निशाना कभी नहीं चूकता | मैं सरकार का नौकर हूँ | सरकार का.....|”13

नरेंद्र मोहन का प्रसिद्ध नाटक ‘अभंग गाथा’ तुकाराम के माध्यम से दलित-वर्ग की अभिव्यक्ति पर परम्पराओं के नाम पर लगी पाबंदियों का चित्रण है। ‘अभंग गाथा’ मराठी के संत कवि तुकाराम को आधार बनाकर लिखा गया नाटक है। ‘अभंग’ मराठी की लोक-परंपरा का छंद है। इस छंद में किसी विशेष नियम का पालन नहीं होता। इस प्रकार तुकाराम के प्रतिरोध का हथियार यह छंद भी परम्पराओं के बंधनों को तोड़ने वाला है। यह सही भी है क्योंकि प्रतिरोध के लिए हथियार या विचार वर्चस्वशाली वर्ग से नहीं लिए जा सकते। तुकाराम की सत्य के लिए लड़ाई और परिवार एवं समाज के दबावों को झेलते हुए प्रतिरोध करने की ताकत ही वर्तमान दलित-वर्ग को प्रेरित करती है। तुकाराम में दलित होने का हीनताबोध नहीं है। वह मानसिक रूप से उच्चवर्ग का गुलाम नहीं है ‘नीच हैं तो क्या अन्याय सहते रहें।’ – तुकाराम इन शब्दों के माध्यम से अपने आत्मसम्मान को व्यक्त करता है। तुकाराम मंबाजी और दलित-वर्ग को नीच कहकर उनका शोषण करने वाले सम्पूर्ण वर्चस्वशाली वर्ग का प्रतिरोध करता है –

रामेश्वर भट्ट : यह रास्ता शूद्रों के लिए बंद है | मैं तुम्हें भाषा में वेदवाणी प्रचारित नहीं करने दूँगा |

तुकाराम : भीतर से उमड़ रही अभिव्यक्ति के लिए किसी का आदेश नहीं लेना पड़ता | यह एक प्रवाह है जिसे बाँधना संभव नहीं है |”14

वर्चस्वशाली वर्ग के लिए खतरा बने तुकाराम के अभंग पदों को यह वर्ग मिटा देना चाहता है इसीलिए अभंगों की पांडुलिपियों को पत्थर बाँधकर इंद्रायणी नदी में डुबो दिया जाता है। तुकाराम पर अभंग रचना करने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है और धर्म विरोधी अराजक आचरण बताकर उसे गाँव से निष्कासित कर दिया जाता है। परंपरा और धर्म के नाम पर दलितों को ज्ञान से दूर रखने का षड्यंत्र है लेकिन तुकाराम का प्रतिरोधी स्वर वर्चस्व के बंधनों को तोड़कर फूटते हुए जनसामान्य के मन-मस्तिष्क को झकझोरता है। सत्ताधारी वर्ग द्वारा रगड़ने या मसलने से प्रतिरोधी स्वर कुछ समय के लिए दब सकता है परन्तु समाप्त नहीं हो सकता। वह अंदर ही अंदर चिंगारी के समान सुलगता रहता है। तुकाराम के सर्जनात्मक संघर्ष को आधार बनाकर लिखा गया यह नाटक प्रतिरोध की गाथा है।

सामाजिक अंतर्विरोध और प्रतिरोध

भारतीय सामाजिक संरचनाएँ क्या कभी दलितों की उपेक्षा करके पूर्ण हो सकती हैं? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे समाज में खड़े हुए हैं जो अपने भीतर विभिन्न सामाजिक अंतर्विरोधों को लिए हुए हैं। यहाँ प्रश्न यह भी उठता है कि सामाजिक अंतर्विरोध क्या है? दरअसल ऐसा कोई नियम या कानून जो सामाजिक संरचना में दोहरी भूमिका निभाए वह सामाजिक अंतर्विरोध ही कहलायेगा। अगर दलित वर्ग के संदर्भ में इस सामाजिक अंतर्विरोध की बात की जाए तो यह बहुत ही स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख प्रकट होता है। कारण, दलितों का सामाजिक रूप से तो बहिष्कार किया जाता है लेकिन उनकी उपस्थिति भी हमारे समाज के लिए ज़रूरी होती है। आज भी अनेक गाँव-देहातों में उन्हें गाँव के बीचों-बीच रहने की अनुमति नहीं है, उनके घर प्रायः गाँव की सीमाओं पर ही होते हैं लेकिन उनकी भौतिक उपस्थिति को ज़रूरी माना जाता है फिर भले ही उसका उद्देश्य साफ़-सफाई हो या कोई उत्सव।

निम्न या पिछड़ी कही जाने वाली जातियाँ इस समाज की आवश्यकता हैं परन्तु सामाजिक स्तर पर उनको सम्मान या बराबरी का दर्जा न देना वर्चस्वशाली व्यवस्था का दंभ ही है जो दलितों को हाशिए पर रखने के लिए सदैव प्रयासरत रहता है। हबीब तनवीर ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'पोंगा पंडित' के माध्यम से समाज में व्याप्त इन्हीं अंतर्विरोधों को चित्रित किया है। आलोच्य नाटक में पंडित ईमेल:जमादारिन से नफरत करता है लेकिन उसके द्वारा चढ़ाए गए पैसे से प्यार करता है। समाज के इन्हीं दोहरे मापदंडों और कुत्सित रूप को यह नाटक मार्मिकता से व्यक्त करता है-

“जमादारिन : हमको भी आरती दो न महाराज।

पंडित : हट तेरी नीच कहीं की बड़ी आई आरती लेने वाली।

जमादारिन : मैं आरती में पैसा चढ़ाऊँगी कह रही हूँ।

भकला : महाराज वो जमादारिन है।

पंडित : पैसे में कुछ नई होता, चढ़ा दे बेटी चढ़ा दे।....

भकला : हूँss देखो कैसे दिखा रहे थे गुस्सा और लात, चमका जब दस का

नोट तो घुसड़ गयी जात और पात।”¹⁵

दलित का पैसा, सेवा, बहु और बेटी सब सवर्णों को पचते हैं परन्तु जैसे ही यह अपना अधिकार माँगते हैं यह समाज को मान्य नहीं होता। पंडित जी को जमादारिन के पैसे तो मंजूर हैं लेकिन उसे आरती देना या प्रसाद देना मंजूर नहीं – यह कैसी विडम्बना है। पैसे के सामने ऊँच-नीच, जात-पात कहाँ घुसड़ जाती है। वर्ग और वर्ण का अंतर्विरोध भारतीय सामाजिक संरचनाओं को और भी ज्यादा जटिल बनाता है। उपर्युक्त पंडित और भोकल का संवाद भारतीय

समाज के जटिल अंतर्विरोधों को सबके सामने नंगा कर रहा है। जमादारिन को भी इस अंतर्विरोध का एहसास हो जाता है इसीलिए वह कहती है -

“सुने महाराज, कर्मप्रधान विश्व करी राखा, जो जस करहीं तस फल चाखा-आपके जैसे महाराज लोग, शिक्षा देते हैं कि आदमी जन्म से नई होता, कर्म से होता है। इस भगवान को आप छुआ गया कहते हो महाराज तो इसको मैं अपने घर ले जाऊँगी, और सुन्दर स्थान ध्यान करके इसकी पूजा कर लूँगी, अब मुझे तुम्हारे जैसे पंडित महाराज की ज़रूरत नहीं है।”¹⁶

जाति व्यवस्था का कारण केवल आर्थिक असमानता ही नहीं है। इसमें कुछ और भी तत्व हैं जिनकी पहचान करनी बहुत आवश्यक है। इस संदर्भ में कोर्ट-मार्शल नाटक के पात्र बिकास राय का एक वक्तव्य यहाँ सार्थक हो उठता है *“हम एक ऐसे समाज में रहते हैं जो कानून और व्यवस्था पर टिका है और समाज में एक व्यक्ति के विरोध और विद्रोह के लिए कोई स्थान नहीं। बिल्कुल नहीं कोई स्थान। समाज ने, कानून ने, व्यवस्था ने विरोध प्रकट करने के लिए बना रखे हैं रास्ते। मीलों लंबे रास्ते। इन रास्तों पर चलना शुरू किया जा सकता है। लेकिन प्रश्न तो यही है कि विरोध प्रकट करने के ये रास्ते क्या कहीं पहुँचते भी हैं? बिल्कुल नहीं पहुँचते। कभी नहीं पहुँचते।.....बराबर की बात तो दूर सोचने के स्तर पर भी हम अपने से ‘छोटो’ को बराबर का अधिकार देने के लिए तैयार नहीं। बराबर का अधिकार। हम तो आँख उठाकर अपनी तरफ देखने का हक तक देने को तैयार नहीं। इसका कारण वे सामंती प्रवृत्तियाँ, सोचने का सामंती तरीका, फ्यूडल टैंडेंसीज़ जिनसे हमें अभी तक आज़ादी नहीं मिली।”¹⁷*

मानसिक रूप से हम अभी भी सामंती दौर में जी रहे हैं। स्वतंत्रता केवल कुछ लोगों तक ही सीमित है। समाज का एक बड़ा वर्ग अभी भी दमन, घुटन, पीड़ा और शोषण के चक्र में पिस रहा है। हमारी आज़ादी और सरकारी नीतियों ने अंतर्विरोधों को कम करने की जगह और अधिक बढ़ाया है।

नागबोडस के चर्चित नाटक ‘दलित’ में दीनानाथ, दरोगा और गैदासींग का नाटकीय स्त्री पात्र कटोरी के प्रति व्यवहार न केवल दलितों बल्कि दलित स्त्रियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। कटोरी इनकी नज़र में केवल उपभोग की वस्तु है। गैदासींग बाहुबल के आधार पर उसका उपभोग करता है तो दरोगा कानून व्यवस्था के आधार पर शक्ति का प्रयोग कर कटोरी का शोषण करता है। इसके अतिरिक्त दीनानाथ जाति के आधार पर कटोरी का उपभोग करता है। यहाँ दरोगा के कुछ शब्दों को देखना ज़रूरी हो जाता है *“बेझिझक होकर देखो, गुरुदेव !....मगर मैं भी कैसा मुख हूँ देखो। आप जैसे पूजनीय से सब खुल्लम खुल्ला कहलवाने की ज़रूरत थी क्या? छी छी, धिक्कार है हम पे। (कटोरी से) ए हरामजादी ! जा गुरु का आसीरबाद ले। खबददार जो नू नुकर करी तो?”¹⁸*

समकालीन हिंदी नाटकों ने जातिगत वर्चस्व के विविध पहलुओं को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। प्रश्न यह उठता है कि साहित्य, राजनीतिक-सामाजिक मंच और विमर्शों की दुनिया में ज्वलंतशील विषय होने पर भी जातिगत भेदभाव समाप्त नहीं हुआ बल्कि वर्तमान दौर में इसका रूप बदल गया है। अब यह सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं में और अधिक सूक्ष्म रूप से विद्यमान है जिसका उदाहरण स्वदेश दीपक का नाटक ‘कोर्ट मार्शल’ है। जातिगत भेदभाव के पीछे आर्थिक पक्ष को नकारा नहीं जा सकता। अतः जब तक आर्थिक समानता नहीं सामाजिक समानता की बात करना बेमानी है।

संदर्भ-सूची

1. दामोदरन के. 2001: भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली, पृ० 66
2. मिश्र अनिल कुमार 2012 कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रभात प्रकाशन, (पंचम संस्करण), पृ० 56-57
3. दुबे अभय कुमार (सम्पादक) 2002 आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ० 91
4. दीपक स्वदेश 1994 कोर्ट मार्शल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 78
5. दुबे अभय कुमार (सम्पादक) 2002 आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ० 12
6. मोहन नरेंद्र 2000 अभंग गाथा, जगताराम एंड संस, दिल्ली पृ० 58
7. दुबे अभय कुमार (सम्पादक) 2002 आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 100
8. दुबे अभय कुमार (सम्पादक) 2002 आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ० 102
9. दुबे अभय कुमार (सम्पादक) 2002 आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली पृ० 104
10. गुप्ता रमणिका 2012 दलित चेतना: सोच, हिंदी बुक सेन्टर, पृ० 21
11. दीपक स्वदेश 1994 कोर्ट मार्शल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 76
12. दीपक स्वदेश 1994 कोर्ट मार्शल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 93
13. दीपक स्वदेश 1994 कोर्ट मार्शल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 95
14. मोहन नरेंद्र 2000 अभंग गाथा, जगताराम एंड संस, दिल्ली पृ० 72
15. तनवीर हबीब 2004 पोंगा पंडित, प्रगतिशील लेखक संघ का प्रकाशन, पृ० 34
16. तनवीर हबीब 2004 पोंगा पंडित, प्रगतिशील लेखक संघ का प्रकाशन, पृ० 40
17. दीपक स्वदेश 1994 कोर्ट मार्शल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 90 नागबोडस 1998 तीन नाटक (दलित), विद्या विहार प्रकाशन.

मीरा का अवदान (सामाजिक संदर्भ में)

विभा ठाकुर

हिंदी विभाग

कालिंदी महाविद्यालय

vibha.india1@gmail.com

शोधसार -मीरा एक ऐसा चरित्र है जिस पर लिखने और नए तरीके से व्याख्यायित करने की चुनौती हर पीढ़ी के लिए बनी रहेगी क्योंकि उसके चरित्र के मिथकीय आवरण को हटा कर यथार्थ चरित्र के रूप में स्वीकार कर पाना परंपरावादियों के लिए सरल नहीं । इतिहास के पूर्वाग्रहों और एकपक्षीय विचारधारा के कारण कई बार तथ्यों के एक पक्ष को ही हम पूर्ण सत्य बनाकर पेश करती हैं सामाजिक दमन और असुरक्षा के भय के बीच स्त्री के पास अपनी अभिव्यक्ति का एक मात्र विकल्प होता है गीत या लोकगीत सबसे बड़ी बात वह इसे सामाजिक संघर्ष के हथियार में बदल देती है मीरा के रचनात्मक व्यक्तित्व को ऐतिहासिक मठवाद के दायरे से निकालना इस शोधलेख का लक्ष्य है

वैद बुलाया वैदगी आके पकड़ी बांह \बौरा वैद ना जानई करक करेजे मांह ।

स्त्री के संदर्भ में यह बात समझने में हजारों वर्ष लग गए कि पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के चोटिल मन का उपचार किसी वैद्य के पास नहीं स्वयं उसी के पास है । हिंदी साहित्य के आदिकालीन इतिहास में स्त्री रचनाकारों की अनुपस्थिति से एक सवाल उठाना स्वाभाविक है कि आधी आबादी कहे जाने वाले वर्ग का साहित्यिक योगदान सचमुच शून्य था या अपने पूर्वाग्रहों के कारण शून्य होने का आभास कराया गया । हिंदी साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास लिखने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास के आरम्भ के कुछ पृष्ठों में स्त्री के साहित्यिक योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'सास ननद के लाख समझाने के बाद भी स्त्रियां कापालिकों के प्रति उसी तरह से आकर्षित होती थी जैसे कृष्ण के प्रति गोपियां । यहां यह बात ध्यान देने वाली है कि सिद्धों के साथ योगिनियों का नाम तो लिया गया है लेकिन उनके साहित्यिक योगदान के बारे में इतिहास मौन धारण कर लेता है । यहीं से कुछ प्रश्नों का उठाना स्वाभाविक है । क्या कोई भी योगिनी उस समय कविता नहीं लिखती होगी ? बिना किसी स्त्री लेखन परंपरा के आंडाल (सातवीं-आठवीं सदी) और मीरा (पंद्रहवीं सदी) जैसी भक्त कवयित्री का प्रकाश में आना संभव हो सकता था । स्त्री रचनाकारों के प्रति साहित्य इतिहासकारों की उपेक्षा सायास है या अनायास इसकी पड़ताल अवश्य होनी चाहिये । नाभादास कृत 'भक्तमाल' में भक्तिकाल की कवयित्रियों की एक लम्बी सूची दी गई है -सीता, झाली, सुमति, प्रभुता, उमा, भटियानी, गंगा, गौरी, कुवारि, उबीठा, गोपाला, गणेश, देवरानी, कला, लाखा, कृतगाढी, मानुमति, सुचि, सतभामा, यमुना, कोली, रामा, मृगा, देवा आदि लेकिन इनका उल्लेख मात्र मंदिरों में भगवत सेवा में लीन भक्त के रूप में किया गया है । किसी काव्य रचनाकार के रूप में नहीं । ऐसी स्थिति में हिंदी साहित्य के इतिहास में मीरा को स्थान मिलना स्त्री की बड़ी एक उपलब्धि ही कही जा सकती है । मीरा के काव्य व्यक्तित्व को दबा पाना संभवतः इसलिए आसान नहीं रहा होगा क्योंकि उनका व्यक्तित्व मठवाद के दायरे से बाहर था ।

उनकी अधिकतर कविताएं राजस्थान और आसपास की निम्न जातियों के लोगों के घर-घर गाई जाती रही और उसके संकलन का आधार भी यही लोग बन पाए इसलिए मीरा का जिक्र तत्कालीन सभी भक्तों की रचनाओं में मिल जाता है। भक्तिकाल की कवयित्रियों की रचनाएं आरम्भिक तौर पर इसी मठवाद का शिकार होने के कारण गुमनामी के अंधेरे में हो सकती है। इसके पीछे पुरुष समाज की अपनी ग्रंथियां रहीं होगी।

पितृसत्तात्मक समाज की ईमानदार स्वीकृति को पब्लो नेरूदा की इस कविता के माध्यम से समझा जा सकता है / ओ स्त्री देह \ मैं महज एक सुरंग था, \ चिड़ियां डरती थीं मुझसे, \ रात मुझे अपने आक्रमण से दबोचती थी, \ हर रोज \ तब महज खुद की रक्षा करने को, \ मैंने तुझे अपना हथियार बना डाला। दूसरे के हाथों कभी हथियार कभी पैर-तले की धूल और कभी रंगीन सपना बनते-बनते हमारे यहां अधिकतर स्त्रियों की अहं की तालाश सरल स्पष्ट और तर्कचेता होने के बजाय प्रायः अंतर्मुखी और अमूर्त होती चली गई। धर्मांधता, आत्म-छवि से ग्रस्तता, अत्याधिक अधिकार-लोलुपता जैसे अवगुणों को लेकर स्त्रियों का उपहास किया गया। समाज में स्त्रीत्व की मूल अवधारणा नकारात्मक है। लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक दायरों में स्त्री को पुरुष के संदर्भ में एक अपूर्ण और सापेक्ष जीवन के रूप में ही देखा गया है। स्त्री के संदर्भ में गढ़ी गई सारी पारम्परिक परिभाषाएं परस्पर विरोधी और एकाकी ही दिखाई देती हैं। तुलसी कहते हैं - 'जीव बिन देह, नदी बिन बारि, तैसेहि नाथ पुरुष बिन नारी', कभी कहते हैं 'कत विधी सृजि नारी जग माहि पराधीन सपनेहुं सुख नाही'। कबीर का मानना है 'नारी कुंड नरक का बिरला थामे बाग', प्रसाद के अनुसार - 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में...'। मैथिलीशरण गुप्त - अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी...। कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री को स्त्री के रूप में स्वीकार करने की सहमति पितृसत्तात्मक समाज में कभी बन ही नहीं पाई इसलिए जिसने उसके व्यक्तित्व का जो पक्ष देखा उसको ही संपूर्ण स्त्री घोषित कर डाला। मजबूरन स्त्रियों ने अपने प्रति फैलाए गए सामाजिक भ्रान्ति को नैतिकता की शर्त पर ओढ़ लिया और आमरण पिता, पति या पुत्र के अनुशासन में दब कर एक पतिव्रता, सती, ममता की मूर्त असुर्यपश्या जैसे तमगों को अपने उपर लाद लिया क्योंकि पुरुष प्रधान समाज में नचिकेता के समान सवाल पूछने का निषेध था। यदि गार्गी बनकर अपने प्रश्नों के लिए वह अड़ी तो जो उसका हथ्र हुआ वह हम सब जानते हैं (मैं कौन हूं ? ब्रह्म - ब्रह्म कौन है ? - आकाश का ताना बाना - आकाश के ताने बाने के ऊपर क्या है ? इस पर याज्ञवल्क्य गरज उठते हैं - री गार्गी मुझसे सवाल पूछेगी तो तेरा सिर नीचे गिर जाएगा ।) स्त्री ने समझ लिया उसके अनसुलझे, अबुझे प्रश्नों के जबाब पुरुष नहीं देगा उसे खुद तलाश करने होंगे और इस जिज्ञासु यात्रा की शुरुआत होती है मध्यकाल की भक्त कवयित्री मीरा के विद्रोह के साथ।

विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार सामंती व्यवस्था नारी को मुख्यतः शरीर ही समझती है। पृथ्वी और नारी दोनों भोग्या हैं। पृथ्वी माता है। यह आदर्श सामंत का नहीं होता। उसका आदर्श है 'वीर भोग्या वसुंधरा' इसलिए राणा उस संकुचित और असहिष्णु व्यवस्था के प्रतीक थे। वह खुद अच्छे या बुरे थे इस पर किसी बहस की जरूरत नहीं थी। आलोचना पृ. 62 भारतीय परंपरा में स्त्री की पहचान उसके व्यक्तित्व की तुलना से अधिक देह से की जाती है। स्त्री अंगों के आधार पर उसे कई संबोधन भी दिए गए हैं सुभगे, सुमुखी, सुनयना। उसकी एक मात्र योग्यता उसकी देह है। उसको लेकर भाषा के सारे सौंदर्यमूलक शब्द हैं तो उसी के लिए वीभत्सतम गालियां भी। सिर्फ इतना ही नहीं पुरुष

की पहली सार्थकता ही स्त्री देह का जीतना और उसे सिर्फ अपने संपत्ति और पुत्र की मां बनाना है । यह व्यवस्था हजारों साल से समाज में चली आ रही है । स्वामी पुरुष को ,दासी स्त्री अपना सर्वस्व सौंप देती है । मीरा समाज की इस सामंती व्यवस्था का सर्वप्रथम विद्रोह करते हुए घोषणा करती है - *‘नहीं सुख भावे थारो देशडो रंग रुडो / थारे देसां में राणा साधु नहीं है लोग बसे सब कुडों / ‘क्या उस समय स्त्री को अभिव्यक्ति की आजादी थी ? उत्तर होगा शायद नहीं लेकिन गीतों के माध्यम से अपनी बात रखनी की चतुराई उसके पास थी । आदिम युग से लोक गीतों की रचना इस बात के साक्ष्य है ।*

सामाजिक दमन और असुरक्षा के भय के बीच स्त्री के पास अपनी अभिव्यक्ति का एक मात्र विकल्प होता है गीत या लोकगीत । अपने गीतों और स्वगत कथनों में वह निजी बात को साधारणीकृत करके अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता उसके पास होती है । इसलिए उसके सारे गीत उसके आंतरिक दुखदर्द का आईना होते हैं । यहां पर वह अपनी कल्पनाशीलता से नये नये प्रसंगों का आविष्कार करके उसे अभिव्यक्त करती है । जिसमें कभी पुरुषों को उलाहना देती है तो कभी कृपा की भीख मांगती है । स्त्री रचित गीतों में वंचित स्त्रियों की दुखगाथाएं इतनी समान है कि उनमें पुनरावृतियों की एकरसता दिखाई देती है। और इसे स्त्री विलाप का नाम देकर मुख्यधारा के साहित्य से खारिज कर दिया जाता है । राजेन्द्र यादव के शब्दों में - “विलाप को शब्द देना स्त्री का पहला विद्रोह है - यथास्थिति की घुटन में छटपटाना ही मुक्ति की प्रेरणा भी बनता है । अधिकारहीन कर्तव्यों की जबावदेही, स्त्री होकर जन्म लेना , काली- गोरी , लम्बी- ठिगनी , बांझ या सिर्फ पुत्रियों की मां होना , शुभ अशुभ के ठप्पे या सुहागिन विधवा होने जैसे अनेक अनकिए अपराधों की सजाओं की निरंतरता उसे हमेशा हीन, लाचार, दयनीय और अपराधी होने की मानसिकता में बनाए रखती है । वह अपनी भाषा में इसी के दुखडे रोती है। बोलकर या लिखकर इन आत्मोक्तियों में जब वह अपनी पारिवारिक या सामाजिक दुर्दशाओं के विवरण देती है तो अपनी नियति के खिलाफ विद्रोह भी कर रही होती है क्योंकि इन सबके पीछे स्थितियों के बदलने की आकांक्षा भी होती है”¹ “मध्यकालीन भक्तिसाहित्य में मीरा द्वारा स्त्री चेतना की पहली आत्माभिव्यक्तियां उसकी अपनी वेदना के ऐसे प्रार्थना पत्र हैं जिन्हें वह हिचकते और डरते हुए अपने मालिक को भगवान के संबोधन से अभिव्यक्त करती है । कारण पारलौकिकता के गाढ़े आवरण के बीच अपने मन के आवेगों को अभिव्यक्त करने की छूट पा जाने और पकड़े ना जाने की आश्वस्ति उसे भक्ति करने को विवश कर देती है । मीरा के काव्य को स्त्री आत्मकथा की पहली कड़ी के रूप में पहचाना जा सकता है । जहां मीरा ने अपनी व्यक्तिगत यंत्रणाओं को सामूहिक पीड़ा के रूप में अभिव्यक्त किया है ।

यदि हम स्वयं स्त्रियों की अभिव्यक्ति की बात करें तो हम देखते हैं कि एक स्त्री जितना दुख सहती है उसका दशमांश ही अभिव्यक्त कर पाती है । मीरा की मुक्ति कृष्ण के प्रेम और विरह को सहने में है । प्रेम और वेदना स्त्री को मुक्त करते हैं । मीरा का पुरुष उसका अदृश्य प्रेमी भी हो सकता है और निराकार भगवान भी । धर्मांध समाज में ईश्वर स्त्री का पहला प्रेमी होता है । सामंती समाज में परिवार के खिलाफ जा कर अपने प्रेमी का चुनाव करना और उसके प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करना स्त्री मुक्ति का पहला कदम है । भले ही वह ईश्वर को प्रेमी या पति के रूप में स्वीकार करना ही क्यों ना हो । एक स्त्री को देह सुख से अधिक मुक्ति के रस के स्वाद के लिए किस तरह सामाजिक दंड भुगतने पड़ते हैं मीरा इसकी साक्षात् गवाह है । मध्यकाल जहां सती प्रथा , बाल विवाह जैसी

कुरीतियां जड़े जमाई हुई थीं । नारी को माया कहने वाले कबीर , तुलसी , जायसी जैसे लोककवि भी नारी को लेकर विरोधाभासों से ग्रस्त थे ऐसे में उनकी समकालीन मीरां जैसी एकमात्र भक्त कवयित्री की मुश्किलें कितनी बड़ी रही होंगी इसका अनुमान हम कर सकते हैं । मीरां की कविता का विषय उनकी आत्मनुभूति एवं जिए हुए जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है । ध्यान रहें मीरां ने जितना दर्द सहा ,जितनी पीड़ा पाई उसका एक अंश ही अपनी कविताओं के माध्यम से कह पाई ‘- हे री मैं तो दरद दिवाणी म्हारो दरद न जाणे कोय ।

रामबक्ष जी के अनुसार – “दरअसल मीरां ने समय से पूर्व अपनी मांगे रखी । चार सौ वर्ष पूर्व उसने स्त्री के लिए मूल अधिकार मांग लिए और वह बाबरी करार दे दी गई । आज तो हर लड़की कहती है कि मैं विश्वविद्यालय जाऊंगी । मुझे पढ़ना है । विचार विमर्श करना है । आज कोई बुरा नहीं मानता ।मीरां के समय में इसे बुरा माना गया । लोकमर्यादा की चुनौती माना गया”²

“स्त्री को शक्तिहीन और रिक्त करने की प्रक्रिया बेहद सूक्ष्म ,जटिल एवं संश्लिष्ट है ।एक ओर उसकी महत्ता के डंके पीट कर उसे शील ,शक्ति और सौंदर्य की अधिष्ठात्री कहा जाता है तो दूसरी ओर कर्तव्यपरायण , एकनिष्ठा , सहिष्णुता , त्याग और क्षमा जैसे उच्च आदर्शों में बांध उसकी परिधि को वेहद संकुचित कर दिया जाता है ।...कुलवधु के रूप में मीरां से जैसे ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा पोषित रुढ़ छवियों में बंधाने की मांग की गई , स्वप्नदृष्टा मीरा की स्वतंत्रता की भावना को गहरी ठेस लगी”³ । (पृ. सं. 12) मीरा के काव्य में सर्वाधिक विवाह संस्था के प्रति असंतोष का भाव दिखाई देता है । बिना किसी परिचय एवं अंतरंगता के किसी अजनबी को पति रूप में सर्वस्व मान लेने का वह विद्रोह करती है । अजीब विडम्बना है कि पुरुषों के लिए जो गुण होते हैं वही गुण स्त्रियों के लिए अवगुण बन जाते हैं । मीरां के स्वाभिमान ,आत्मसम्मान की जिद ने उसे अहंकारी,कुलांगार बना डाला ।

‘राणों जी म्हासू रूस रहयौ छे,कूड़ा बचन निकासै माय

“मीरा को हरि भक्ति करने में कोई कलंक की बात नहीं लगती । मीरा संबंधों में स्पेस चाहती है ।...एक औसत स्त्री की तरह मीरा सरल हृदया है किंतु औसत स्त्री से भिन्न ज्ञानपिपासु ।...साधु संगति मीरा के लिए ज्ञानार्जन और आत्मविस्तार का जरिया । भौतिक रहस्यों को जानने जगत के साथ अपने संबंधों को गुनने और अपनी मानवीय सत्ता को एक सार्थक दिशा देने का मीरां के अनुभव सीमित है अपने ही वृत्त में बन्द स्त्री जीवन की नियति के कारण वह आरोपित स्त्री नियति से उपर उठकर अपने को तलाशना और संवारना चाहती है”⁴

बरजी मैं काहू कि नहि रहूं...साध संगति कर हरि सुख ले ,जगसू मैं दूरी रहूं तन धन मेरो सब ही जावो,भल मेरो सीस लहूं, मन मेरो लागो सुमिरन सेती ,सबको मैं बोल सहूं ।

म्हाने बोल्यामत मारो राणां यो लै थारो देस कहकर राजसत्ता ,पितृसत्ता कुलकानि को ठोकर मारती विद्रोहिणी अनायास नहीं बनी है । तिरस्कार से अधिक दमन और उत्पीड़न ने उसके भीतर की कोमलता और मनुष्यता को आहत किया सांसारिक छल,प्रपंच ,धोखा ,तिरस्कार ने मीरा के भीतर पारिवारिक संबंधों को लेकर निर्लिप्तता का भाव पैदा किया । इनसे विरक्ति ने उसे ईश्वर भक्ति की ओर उनमुख किया । रोहिणी जी के अनुसार ‘घरेलू हिंसा की

शिकार औसत स्त्री सरीखी मीरा के पास दो विकल्प हैं रो-रो कर प्राण दे दे या सजग चौकसी होकर अपने प्रण और स्वाभिमान की रक्षा करे। सर्पदंश को पुष्पहार और विष को अमृत बना लेने का जीवट सामान्यतया स्त्रियों के पास नहीं होता। अपने प्रेम की स्पष्ट उदघोषणा करती हुई कहती हैं – *राणा जी हूं तो गिरधर लोकलाज और कुलकानि..*

मीरा एक ऐसा चरित्र है जिस पर लिखने और नए तरीके से व्याख्यायित करने की चुनौती हर पीढ़ी के लिए बनी रहेगी क्योंकि उसके चरित्र के मिथकीय आवरण को हटा कर यथार्थ चरित्र के रूप में स्वीकार कर पाना परंपरवादियों के लिए सरल नहीं। इतिहास के पूर्वाग्रहों और एकपक्षीय विचारधारा के कारण कई बार तथ्यों के एक पक्ष को ही हम पूर्ण सत्य बनाकर पेश करती हैं। मीरा के साथ भी यही हुआ। उसे एक स्त्री की जगह भक्त के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु मीरा ने इसे सामाजिक संघर्ष के हथियार में बदल देती हैं। उसकी कविता मात्र एक स्त्री की स्वतंत्रता का संघर्ष नहीं अपितु सामाजिक समानता की पक्षधरता और राजशाही के खिलाफ विद्रोह की दुंदुभि है। यह लोकतंत्र की लड़ाई नहीं है पर लोकतंत्र और समानता को रेखांकित करना जरूर है। भारत समेत पूरे मध्य एशिया में धार्मिक आवरण के पीछे कई महिला संतों की मुक्ति यात्रा को देखा जा सकता है। इसके द्वारा एक वैकल्पिक स्पेस पाकर स्त्रियों ने अपनी रुचि अरुचि के बारे में सोचना शुरू किया। धर्म एक छतरी की तरह है जहां सामाजिक बंधनों से मुक्ति का एहसास किया जाता है। पहले यह एहसास मुट्ठी भर स्त्रियों के लिए था अब इसका साधारणीकरण हो गया। मुक्ति की कामी स्त्रियों के प्रति सामाजिक नजरिया सदा से संकुचित रहा है। उसके बारे में तरह तरह के कयास कभी भी उसे सहज रहने ही नहीं देते। पर पुरुषों के साथ उठने बैठने बतियाने वाली स्त्री चरित्रहीन ही होगी ऐसी मानसिकता वाले समाज में मीरा की स्वीकारोक्ति – संतन ठींग बैठी बैठी लोक लाज खोई, निसंदेह दुस्साहसी कदम था।

समाज के हाशिये पर जी रहे स्त्री और दलित का भक्ति आंदोलन के केंद्र में आना कोई आकस्मिक घटना नहीं यह वह परिस्थिति है जिसमें दोनों को जगह मिली। तथाकथित सवर्णों से अलग दलितों की भक्त टोली ने मीरा का स्वागत किया और मीरा ने भी अपना गुरु रविदास को चुना। मध्यकाल में ईश्वरीय भक्ति अथवा धर्म एक सशक्त संबल था जिसकी पृष्ठभूमि पर स्त्रियों ने अपनी बात रखी। पुरुषों के लिए स्त्रियों को इस आधार पर इससे वंचित करना असंभव था क्योंकि ईश्वरीय भक्ति अथवा प्रेम सर्वसुलभ था ईश्वर पर समान रूप से सबका अधिकार था एवं उसके प्रति अभिव्यक्तियों पर कोई बंदिश नहीं लगा सकता था। इसका लाभ उठा कर ईश्वर के प्रति अपने उदगारों में स्त्रियों ने जाने अनजाने अपने व्यक्तिगत जीवनानुभवों और आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्त किया।

मीरा स्वतंत्रता चाहती थी, चयन की स्वतंत्रता, जो हर पुरुष के पास है स्त्री के पास क्यों नहीं? यह प्रश्न मीरा को निरंतर उकसाता है। उसके पास दो ही विकल्प थे, विलाप करके शांत हो जाने का या फिर विद्रोह करके अपने मन की राह चुन लेने का। मीरा को कृष्ण के जैसे पुरुष की तलाश है। रस और आनंद की मूर्ति नटवर कृष्ण की, जिसकी कल्पना मात्र से आनंद की अनुभूति होती है। मीरा उस शौर्य परंपरा को नकारती है जो राजपूतों की पहचान है। वह कृष्ण प्रेम के सहारे अपनी निजता, अकेलेपन, विरह, ऐंद्रिकता, यौनिकता और वासना का इजहार करती है। सबसे बड़ी बात वह इसे सत्ता के खिलाफ तब के हिंदी साहित्य में सबसे सशक्त स्वर में बदल देती है। मीरा के काव्य में

सामंती मूल्यों के खिलाफ बगावत का स्वर साफ - साफ देखा जा सकता है । इस विद्रोह के बाद मीरा के लिए न ससुराल में और न ही मायके में कोई जगह बची थी । ऐसा जोखिम मीरा जैसी स्वतंत्र चेता स्त्री ही उठा सकती थी - राजा रुठे नगरी राखे , हरि रुठ्यां कह जास्या ।

मीरा के लिए स्थितियां विकट रही होंगी यह उनके एक नही कई पदों से स्पष्ट है । प्रेम को भक्ति के रंग में रंग कर अपने आराध्य की खोज में मीरा चित्तौर छोड़ने के बाद वृंदावन गयी थी पर विरोध के कारण वहां भी नहीं रह पायी । कृष्ण की दूसरी नगरी द्वारका में उन्होंने शरण ली । वहां से फिर मीरा कहां चली गई इसका कोई प्रमाणिक उल्लेख नहीं मिलता । संभावनाएं प्रगट की जाती हैं कि वह या तो सागर में समाधिस्थ हो गई या वहां से निकल कर गुमनाम जीवन जीने के लिए दक्षिण की ओर चली गई । पारिता मुक्ता का पूरा शोध यह सिद्ध करता है कि मीरा का ना तो इतिहास में कोई उल्लेख है और ना ही राजपूतों की विरुदावलियों या वंशावलियों में । फिर इतिहास में मीरा बची कैसे रही । इसका उत्तर है मीरा राजस्थान और सौराष्ट्र के हाशिए के उन लोगों द्वारा अपनाई गई थी जिनका दमन और शोषण उच्च जातियों और सामंती व्यवस्था द्वारा सदियों से होता रहा है । मीरा साहसिक और दृढ़ प्रतिज्ञ महिला थी जिसमें राणाओं के खिलाफ कभी हार नहीं मानी और राजमहलों तथा दरबारों से परे एक समानांतर समाज का निर्माण किया । इसीलिए पारिता मुक्ता ने माना की मीरा मंदिर के गुप्त मार्ग से निकल कर उसी समाज में जा मिली होगी जो उन्होंने अपनी भक्ति के माध्यम से बनाया था । यह वह समाज है जो सदा से उन सबको शरण देता रहा है जिन्हें शासक वर्गों ने नकार दिया था ।

स्त्री के बारे में मीरा का दृष्टिकोण बांकी भक्त कवियों से एकदम अलग था उनकी कविता में एक ओर सामंती समाज में स्त्री पराधीनता और यातना का बोध है तो दूसरी ओर उस व्यवस्था के बंधनों का पूरी तरह निषेध और उससे स्वतंत्रता के लिए दीवानगी की हद तक संघर्ष भी है । उस युग में एक स्त्री के लिए ऐसा संघर्ष कठिन था । राठौर राजकुल की बेटी और सिसोदिया राजकुल की बहू मीरा के लिए सामाजिक परंपराओं के विरोध में जाकर स्त्री मुक्ति की मांग करना एक क्रांतिकारी कदम था । जिसके लिए उन्हें लगातार लांछन , अपमान और यातना सहनी पड़ी । लोकापवाद का विष पीते हुए मीरा जब घर से निकल गई और भक्त हो गई तब उनका संघर्ष भक्ति क्षेत्र में फैली उस पुरुष दृष्टि से हुआ जिसकी नजर में नारी मात्र माया थी । उस युग में साधु संतों के बीच मीरा के प्रति जो उपेक्षा भाव रहा होगा उसका अनुमान किया जा सकता है । कहा जाता है कि वृंदावन में जब वे जीव गोस्वामी से मिलने गई तो उन्होंने यह कहकर मिलने से इंकार कर दिया की मैं स्त्रियों से नहीं मिलता । मीरा ने जो उत्तर दिया उससे भक्ति के क्षेत्र में संकुचित पुरुषप्रधान दृष्टि का पता चलता है । मीरा ने कहला भेजा वृंदावन में पुरुष तो सिर्फ कृष्ण हैं बांकी सब तो स्त्री रूपा हैं । कहा जाता है कि जीव गोस्वामी निरुत्तर हो गए और स्वयं मिलने आ गए । भक्ति आंदोलन में केवल भक्ति की दृष्टि से समानता की बात की जाती थी किंतु इस समानता के लिए तत्कालीन स्त्रियों को सामाजिक रूढ़ियों से टकराना पड़ता था । उस समय भी सहजता से स्त्री न तो संन्यास लेने के लिए स्वतंत्र थी और नहीं तीर्थाटन करने के लिए । पहली बार मीरा इस वर्जना को तोड़ती हैं । मीरा इसके दुष्परिणाम भी जानती थी । वह जानती थी कि गृहस्थ जीवन हो या संन्यासी जीवन स्त्री को दोनों जगह मात्र देह के रूप में पहचाना गया है , स्वतंत्रचेता मनुष्य के रूप में नहीं । फिर भी अपने आत्मबल के कारण जिस देहरी को लांघने का जोखिम

मीरा ने उठाया था उसके हर परिणाम से मुठभेड करने का साहस भी उसने जुटा लिया था । मीरा को वृन्दावन और काशी की गलियों में घूमते हुए एहसास हो गया था कि स्त्री के लिए घर हो या बाहर पुरुष सिर्फ पुरुष होता है । भक्त या साधु नहीं । इसलिये मीरा को भक्तों से भी अनेक प्रकार के विरोध एवं यौन शोषण का सामना करना पड़ा । मीरा विधवा थी या अतृप्त दाम्पत्य जीवन की उपेक्षिता इस तथ्य को जान लेने से तत्कालीन स्त्री स्थिति में विशेष अंतर नहीं पड़ता । दोनों ही रूपों में स्त्री समाज के हाशिये पर जीने को विवश थी । मीरा ने अपने समय की जटिल सामाजिक वर्जनाओं (स्त्री मर्यादा और वर्ण व्यवस्था) को तोड़ने का अपराध किया था । विवाह संस्था की अस्वीकृति के साथ कृष्ण को पति रूप में स्वीकार करना , साधु संतो के साथ नाचना -गाना , जैसे कृत्य सामंती समाज के खिलाफ बगावत को सिद्ध करते हैं । जाने अनजाने पितृसत्तात्मक समाज की उंचे दुर्गों को तोड़ने का दुस्साहस मीरा जैसी स्त्री ही कर सकती थी । मीरा साफ साफ कहती हैं- *मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोगा कहे बिगडी।*

मीरा के समय की सबसे बड़ी विडम्बना थी कि समाज स्त्री को दैवी पद पर तो प्रतिष्ठित कर सकता था लेकिन मानवीय रूप में नहीं । सेवा , दया , त्याग की मूर्ति के रूप में स्त्री का गुनगान उसे स्वीकार्य हो सकता था लेकिन स्त्री के मनुष्य होने की सत्यता उसे सहनीय नहीं थी । इसलिए किसी भी पुरुष का संन्यासी या भक्त हो जाना तत्कालीन समाज का आदर्श बन सकता था किंतु स्त्री का उसके एकक्षत्र राज में दखल करके भक्ति में रम जाना समाज और परिवार के लिए कलंक की बात थी । दरअसल मीरा भी अपनी स्त्री सीमाओं से बंधी थी । सदियों से स्त्री को सत्ता , संपत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित रखा गया । मीरा उतनी परिष्कृत नहीं थी जितनी की आज की स्त्रियाँ । मीरा उस अर्थ में आधुनिक नहीं है जिस अर्थ की आधुनिकता के हम अनवेषक हैं शायद यही वजह है कि पितृसत्तात्मकता के समस्त निषेध के बावजूद मीरा दास्य भक्ति की भाषा बोलती है – माणे चाकर राखो जी ... । सत्तावान पुरुषों से चोट खाकर भक्ति के बहाने अपनी स्वतंत्रता की कामना में घर परिवार के विरोध में खड़ी होकर स्वप्नदर्शी पुरुष की दासी होने में ही अपने सार्थकता समझ रही थी । रोहिणी जी के अनुसार दरअसल स्वयं मीरा अपनी लैंगिक पहचान से मुक्त नहीं हो पाई हैं । बेशक सजग तौर पर वह जानाती है कि मानावीय मूल्यों का दंभ भरनेवाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था में मनुष्य का निषेध है । मीरा का स्वप्न पुरुष की अवधारणा पुरुष से चोट खकर पुरुष में ही अपने स्त्रीत्व की सार्थकता ढूँढता है *"वास्तव में सामाजिक मर्यादा और नैतिकताएं , संस्कार रूप में स्त्री के अवचेतन मन में बैठ गए हैं उनसे मुक्त होते होते सदियों बीत गए । जो आज भी स्त्री मुक्ति की सबसे बड़ी बाधा बने हुए हैं । मीरा का विद्रोह एक विकल्पहीन व्यवस्था में अपनी स्वतंत्रता के लिए विकल्प की खोज का संघर्ष भी है । उनको विकल्प की खोज में संकल्प की शक्ति भक्ति से मिली है।...उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा जितनी आध्यात्मिक है उतनी ही सामाजिक भी"*⁵ । (पृ 120)

इतिहास में दर्ज होने के लिए भाषा में अंकित होना जरूरी है । मीरा के काव्य को उनकी आत्माभिव्यक्ति मानकर उसे तत्कालीन समाज का राजनीतिक – सामाजिक दस्तावेज कहा जा सकता है । जिसमें सदियों से वंचित स्त्री के दुख दर्द और असंतोष की प्रखर अभिव्यक्ति दिखाई देती है । वास्तव में आत्मकथा उन लोगों की अभिव्यक्ति का सशक्त औजार है जिसे समाज हाशिये पर जीने के लिए मजबूर करता है । मीरा का काव्य सिर्फ उसकी अपनी ही नहीं अपने जैसे हजारों, लाखों स्त्रियों की आवाज बनकर मध्यकालीन समाज से अपने अधिकारों की मांग रहा था । मीरा ने

अपने समय में स्त्री मुक्ति का जो अलख जगाया बाद के युगों में वही स्त्री विमर्श की मशाल की भांति जगमगाने लगा है ।

अतः जरूरत है मीरा जैसी इतिहास के गर्भ में छिपी अन्य स्त्री रचनाकारों को खोज निकालने की तथा उन्हें मिथकीय आवरण से निकाल यथार्थ के धरातल पर समझने की ।

संदर्भ ग्रंथ

- 1.वर्मा अर्चना ,बलवंत कौर संपादन यादव राजेन्द्र ,2006, देहरि भई विदेश , किताबघर ,नयी दिल्ली पृ. सं. 17
- 2.संपादक ,पल्लव 2007, मीरा :एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पंचकुला (हरियाणा) पृ. सं. 300
- 3.अग्रवाल रोहिणी 2011 स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प राजकमल, प्रकाशन दिल्ली, पृ. संकल्प पृ.-14-15)
4. अग्रवाल रोहिणी 2011 स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प राजकमल, प्रकाशन दिल्ली, स्त्रीलेखन पृ. सं. 12
5. .संपादक ,पल्लव 2007, मीरा :एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पंचकुला (हरियाणा) पृ. सं. 120

‘मृगया’ फिल्म में आदिवासी का विमर्श

रक्षा गीता

हिंदी विभाग

कालिंदी महाविद्यालय

rakshageeta14@gmail.com

शोध सार – “मृगया” फिल्म भगवती चरण पाणीग्रह की उड़िया कहानी शिकार का सिनेमांतरण है। फिल्म सीधे- सीधे हमें आदिवासी जीवनशैली और उनके संघर्षों व अस्मिता के विद्रोह से सामना करवाती है जो किसी भी तरह के आदिवासी विमर्श का साक्षात्कार करवाती है। यह शोध पत्र वस्तुतः फिल्म के माध्यम से विमर्शों को नया आयाम देने का प्रयास है जिसे मृणाल सेन ने 1976 क्योंकि फिल्म की रचनात्मकता किसी भी रूप में साहित्य से कम नहीं है साहित्यिक कृति पर बनी यह फिल्म न केवल आदिवासी लोगो को अभिव्यक्ति प्रदान करती है बल्कि आदिवासी विमर्शों के लिए नया मार्ग खोलती है यही इस शोध का लक्ष्य है। 6 जून 1976 मृणाल सेन द्वारा निर्देशित फिल्म मृगया आदिवासी जीवन की पृष्ठभूमि पर बनी एक बेहतरीन फिल्म है जो उड़िया लेखक भगवती चरण पाणीग्रह की कहानी “शिकार” का सिनेमांतरण है मूल कहानी जो कि 1930 के भारतीय परिवेश को 1857 की क्रांति से पूर्व 1850 के आसपास ले जाती है। मृणाल सेन के अनुसार कोई भी कहानी किसी भी समय के कलेवर से जुड़ सकती है यदि उसकी आत्मा को न छेड़ा ना जाये। मृगया फिल्म कहानी की आत्मा के साथ पूरा न्याय करती है साथ ही आदिवासी जीवन तथा उसके संघर्ष को बड़ी ही सहजता के साथ आम जनता तक पहुंचाती है।

फिल्म की बात हम आरंभ से ना करके अंत से करेंगे जोकि अत्यंत प्रेरणाप्रद है फिल्म का अंत एक नई शुरुआत है नई आशा है आदिवासी जीवन को सूरज के माध्यम उन्हें मुख्य धारा से जोड़ने की। मृगया का अंत टिपिकल हिंदी फिल्म के THE END से नहीं होता बल्कि एक पंक्ति जो अंग्रेजी व हिंदी में चलती रहती है, से होता है “STAND UP, STAND UP,, REMEMBER THE MARTYRES, WHO LOVED LIFE AND FREEDOM.....” “शहीदों की याद में, जिन्हें प्यारी थी ज़िन्दगी और आज़ादी” ये वे आदिवासी शहीद हैं जो इतिहास के पन्नों पर अपनी उपस्थिति दर्ज न करवा सके। सिंधु, कनु, शोल्पू, गुनिया जैसे आदिवासियों का संघर्ष आज भी अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए युद्धरत है। यद्यपि आज पूंजीवादी परिवेश में इनके संघर्ष को विद्रोह बल्कि देशद्रोह के रूप में प्रचारित किया जा रहा है सत्ता की हाँ में हाँ मिलाओ तो ठीक अन्यथा आप देशद्रोही हैं क्योंकि आप देश के विकास में बाधक हैं।

मृगया संथाल आदिवासियों के संघर्ष को कई स्तरों पर दर्शाती है। एक तरफ प्राकृतिक पारिवेशिक बन सूअर, बाघ, अन्य जंगली जानवरों का आतंक तो दूसरी तरफ मानव निर्मित महाजनों जमींदारों व ब्रिटिशों का अमानवीय अत्याचार जो खूंखार जानवरों से ज्यादा खतरनाक, धूर्त व चालाक हैं। शोषण से त्रस्त ये आदिवासी दबी कुचली सहमी ज़िन्दगी जीने को विवश हैं। इसके साथ ही फिल्म आदिवासी जीवन शैली की लगभग सभी विशेषताओं को बिना किसी फ़िल्मी फार्मूले व प्रयोग के स्वाभाविक रूप में सामने रखती है। जैसे सामूहिकता, सहभागिता, प्रकृति के साथ अभिन्न लगाव, परिश्रमी स्वाभाव, स्त्री के प्रति समान सम्मान का भाव।

‘मृगया’ रॉयल हंट” फिल्म में इसे “बड़ा शिकार” कहा गया है अपने आप में बहुत ही अर्थपूर्ण है। शिकार आदिवासी जीवन का अभिन्न अंग है जो सीधे तौर पर उनकी शिकार संस्कृति को अभिव्यक्त कर रहा है। हँसिया, हथोड़ा, हल, कुदाल, खुरपी आदि आदिवासियों के औजार हैं जो जरूरत पड़ने पर हथियार भी बन जाते हैं। वह जंगली जानवरों का शिकार आत्मरक्षा के लिए करता है, तो आत्मसम्मान के लिए वह संघर्ष और विद्रोह भी करता है, आदिवासी का संघर्ष ताउम्र चलता है। किसी भी बाहरी तत्त्व से उसका संघर्ष शोषण और दमन के खिलाफ विद्रोह उसकी अस्मिता का युद्ध है। फिल्म के नायक गुनिया द्वारा गोविन्द सरदार महाजन को मारना इसी सन्दर्भ को अभिव्यक्ति देता है। क्योंकि उनकी सरल निष्कपट जीवन-शैली को कोई भी क्रूरता व अमानुषिक ढंग से कुचलेगा तो सभ्य माने जाने वाला मनुष्य को जो कि खूंखार जानवर से ज्यादा खतरनाक व चालक है, उसका शिकार करना उसके लिए अंतिम विकल्प होगा। किसी भी साहित्यिक रचना पर जब फिल्म बनाई जाती है तो रचना को अधिक विस्तार मिल जाता है तथा उसकी आवाज़ अधिक मुखर हो जाती है।

1850 के पहले जल, जंगल और ज़मीन के लिए संघर्ष करने वाले आदिवासियों को सत्ताधारियों ने षड़यंत्र के तहत इतिहास से बाहर रखा ताकि उनका प्रभुत्व व एकाधिकार भी कायम रहे और कोई दुबारा विद्रोह ना कर सके। मृगया आदिवासियों द्वारा लड़ी गयी स्वदेश की लड़ाई को नई पहचान देती है, उनके संघर्षों को गहनता से उभरती है। फिल्म हमें उस परिवेश से जोड़ती है जो आदिवासी समाज अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों व ज़मींदारी व्यवस्था से त्रस्त हो शोषण के खिलाफ विद्रोह की आवाज़ उठा रहा था। इनमें कमल लोचन द्वारा विशोई से लेकर चक्राविशोई के नेतृत्व में घुमुसर विद्रोह, रौंडा माझी का विद्रोह तथा बिरसा मुंडा के विद्रोह का जिक्र आता है। मृगया फिल्म के सन्दर्भ में सिधु व कनु दो सगे भाइयों की क्रांति का किस्सा गाँव के मुखिया द्वारा सामने आता है। मुखिया के अनुसार ये तब की बात है जब उसका भी जन्म नहीं हुआ था ये कथा उसने अपने दादा के मुंह से सुनी थी “उस बेला में सिधु – कनु दो सगे भाई जिन्होंने संथालों का दल बाँधा, तब शांत मानो शांत नहीं रहा, तब जाग उठा वीरों में पौरुष, जंगल- जंगल, पहाड़-पहाड़ चारों ओर एक ही नारा एक ही यद्ध; युद्ध ज़मींदार महाजन के साथ; युद्ध अंग्रेज सरकार के साथ।” स्पष्ट है कि संथाल आदिवासियों का अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए संघर्ष बहुत पहले शुरू हो चुका था, कारण इन आदिवासियों पर ज़मींदार महाजनों व अंग्रेजों ने मिलकर इनका शोषण किया जल जंगल और जमीन जो इनका पुश्तैनी अधिकार था उस पर कब्ज़ा किया इनकी स्त्रियों को अपनी हवस का शिकार बनाया। आज भी विकास के नाम पर इनको इनकी सांस्कृतिक धरोहरों से वंचित किया जा रहा है।

फिल्म का आरम्भ बन सुअरों के हमले से होता है गाँव वाले एकजुट होकर उन को भागने के लिए सारी रात चिल्लाते हैं ढोल आदि पीटते हैं लेकिन जंगली सुअरों के झुण्ड फसलों को बर्बाद कर जाते हैं। गाँव की एकजुटता, सहभागिता से जो खेत बच गए हैं उन पर भी गोबिंद सरदार की पैनी नज़र है। सारी रात हल्ला मचाने के बाद, सुबह पूरा गाँव फसलों की बर्बादी का मातम बना रहा है नायिका डूंगरी के पिता मंगरा का तो पूरा खेत तबाह हो गया हालांकि नए दृश्य की शुरुआत में गाँव की महिलाएं दैनिक दिनचर्या के घरेलू कामकाज, बुआई, पिसाई, आदि में व्यस्त दिखाई जाती है। पृष्ठभूमि में गीत चल रहा है “अड़े पहाड़ तो तोड़े पहाड़”। दृश्य व गीत प्रतीकात्मक है, जो

आदिवासियों की जिजीविषा को रेखांकित करता है कि कितनी ही कठिनाई आये आगे बड़ना ही जीवन है। मुखिया के संवाद कथा को गति देते हैं।

गाँव वाला -“तंग आ गए रोज़ रोज़ के इन हमलो से”

गुनिया -“जो गया सो गया। अब आगे की सोचो”

मुखिया-“एक मेरे सोचे से क्या होता है सारे एक साथ सोचे तो”

गाँव वाला-“महाजन कुछ न सुनेगा -सब छीन ले जायेगा।”-----आगे की सोचने वाला नायक गुनिया अकेला नज़र आता है जब मुखिया कहता कि एक मेरे सोचे क्या होता है। सत्ताधारी शक्तियां उनके बीच दो फांक का काम करवा रही हैं। बनैले सुअरों की आफत के बाद जीवन पटरी पर आ भी जाये तो भी गोबिंद सरदार महाजन की क्रूरता से कैसे बचा जायेगा -“जैसा जानवर वैसा महाजन, हमारी सुनेगा कौन? दोनों बर्बाद करने पर तुले हैं।” बर्बाद किसानों को बंधुआ मजदूर बनाकर महाजन उनकी ज़मीन हथिया लेगा। और उनकी बहु बेटियों का भी शोषण करेगा। एक दृश्य में कुछ महिलाये पानी भरकर जा रही हैं तभी महाजन की पालकी आती है, उनके कदम तेज़ हो जाते हैं मानो उसकी परछाई भी ना पड़े, पालकी गुजरे के बाद एक महिला शून्य में घूरती हुई कहती है -“मैं इसे जानती हूँ, गोबिंद सरदार महाजन। मैं लकड़ी बेचने हात गई थी, इसके लठैत मुझे उठाकर इसकी कोठी में ला गए मेरी इज्जत लूटी मुझे कांच की चूड़ी दी नयी साड़ी दी” यह संवाद एक तरफ आदिवासी स्त्रियों के दर्द को बयां करता है तो दूसरी तरफ महाजन के चरित्र की संवेदनहीनता को। उसके अत्याचार की कोई सीमा नहीं वह जब चाहे जिसका चाहे उपभोग कर सकता है। वह डूंगरी के बाप को उठाकर उसकी पिटाई करवाता है, घर का भेदी लालची, धूर्त डोरा डूंगरी की ओर इशारा कर महाजन के कान में फुसफुसाता है, महाजन बड़ी धृष्टता से कहता है-“मंगरा अपनी बेटी को हमारी कोठी में भेज दे, वहाँ रहेगी, खाएगी, काम करेगी तो तेरा कर्ज़ भी उतर जायेगा” पृष्ठभूमि में कौओं की कांव-कांव और डूंगरी का स्तब्ध चेहरा अत्यंत मार्मिक है, गाँव वाले विवश हैं, 10 रुपये कर्ज़ पर 22 रुपये ब्याज जो मंगरा पर है। गाँव सुनते आये हैंवाले अपनी सहभागिता देने को तैयार हैं। मुखिया कहता है-“सरदार आधा पैसा गांववाले मिलकर दे देंगे आधा तुम माफ़ कर दो” पर महाजन किसी की नहीं सुनता उसे किसी से कोई सहानुभूति नहीं। जमीन हड़पने के लिए आदिवासी स्त्रियों को प्रताड़ित करना आज भी कायम है बल्कि अधिक क्रूरता के साथ 2008 में छत्तीसगढ़ की आदिवासी लड़की के साथ दरिंदगी का जो यथार्थ सामने आया वह रोंगटे खड़े करने वाला है इस इलाके में विकास के नाम पर आदिवासी लड़कियों को नक्सलवादी या देशद्रोह बताकर जेल में डाल दिया जाता है, उन्हें रौंदा जाता है उनके आत्मसम्मान को कुचला जाता है ताकि कोई दोबारा विद्रोह करने की सोचे भी न। सरकार और अदालतें इनके दुःख दर्दों से एकदम बेपरवाह हैं। जबकि आदिवासी संस्कृति में स्त्रियों की मान मर्यादा और सम्मान का पूरा ध्यान रखा जाता है तभी महाजन का मुंह बंद करने के लिए मुखिया का बेटा डूंगरी से कहता है तू घर जा और अगले ही दिन वह डूंगरी से शादी कर लेता है। आदिवासी समाज की वैवाहिक संस्थाएँ स्त्रियों को पसंद नापसंद का पूरा अधिकार देती हैं, उन पर परिवार या समाज का कोई दबाव नहीं रहता और नाही धर्म या जाति की समस्या रहती है

एक अन्य दृश्य में जहाँ बाघ एक गांववाले के इकलौते बेटे को उठा ले जाता है तो महाजन बेदर्दी से कहता है “रहोगे जंगलो में तो बाघ ही उठा ले जायेगा न, परी नहीं न, और फिर एक जन का खाना भी तो बचा न” वहाँ बैठी एक महिला जो अत्याचारों व दुखों से विक्षिप्त -सी हो चुकी है कहती है “अब तो बहुत हो गया राजा बाबू, धान कटाई के समय तू आता है, हर बार एक ही बात दोहराता है, आँखे लाल करके भय दिखाकर सब लूट ले जाता है। तू मानुष

किस मिट्टी का बना ही रे राजा बाबू" यहाँ वह बुढ़िया उसे जानवर नहीं कह सकती लेकिन सचाई यही है की मनुष्य की खाल में छिपे ये भेड़िये धूर्त व ढोंगी है जिनका शिकार करना बाघ जैसे जानवरों से भी ज्यादा कठिन है। गाँव का एक लड़का शोल्पू इन अत्याचारों के खिलाफ आवाज़ उठाता है तो उसे छिप कर जंगल में रहना पड़ता है शोल्पू अपनी माँ से कहता है कि "अँगरेज़ दरोगा हमारा दुश्मन, गोबिंद सरदार हमारा दुश्मन" जब माँ कहती है कि "जंगल में रहकर तु जंगलवासी हो गया रे" तो वो हँसते हुए कहता है – "बाघ होता तो अच्छा था दरोगा को कच्चा खा जाता।" यहाँ महाजन और दरोगा के प्रति आक्रोश व्यक्त होता है। जिसे मुखिया तथा गाँव वाले जबान पर नहीं ला पाते। निराश के क्षणों में मुखिया शोल्पू की माँ से अपना दर्द कहता है क्योंकि मुखिया होकर भी वह गाँव वालों के संरक्षण में कुछ ना कर सका। सिधवा कानू को याद करने के बाद वह कहता है – "वो दिन अब नहीं रहे, तेज़ अब नहीं रहा, जोर अब नहीं है, आग खत्म हो चुकी है – हम ठूँठ हैं हाँ हम ठूँठ हैं" तो शोल्पू की माँ उसका प्रतिरोध करती है – "मेरा शोल्पू ठूँठ नहीं है वो स्वदेशी वालों के साथ उठता-बैठता है, ठूँठ कहने से कोई ठूँठ हो जाता है क्या? तू ठूँठ है" शर्मिदा मुखिया बाद में शोल्पू से कहता है – "तू ही हमारा सिधु तू ही हमारा कनु" यह सम्वाद इस बात का भी परिचयक है कि आदिवासियों के संघर्ष तथा विद्रोह को कोई विराम नहीं लगा सकता शोल्पू जैसे नवयुवक आज़ादी के लिए संघर्षरत है शोल्पू का विद्रोह साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ विद्रोह है तभी तो गांववाले अपनी सामुदायिकता का परिचय देते हुए डोरा को झूठा साबित कर देते हैं यहाँ मृणाल सेन आदिवासियों के दुःख दर्द, व संघर्षों को मानो नया मार्ग दिखा रहे हैं कि कैसे घर के भेड़ियों को सबक सिखाना है

फिल्म का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष *मृगया* *THE ROYAL HUNT* अब शुरू होता है। फिल्म का नायक मुखिया का बेटा गुनिया गाँव का सबसे अच्छा तेज़ सतर्क शिकारी है। गाँव में हो रहे सांस्कृतिक कार्यक्रम के दौरान महाभारत का नाट्य चल रहा है, अर्जुन बन सुअर को लक्ष्य कर तीर चलने के लिए तत्पर है तो इंगरी अर्जुन की तुलना गुनिया से करती है जो अपने लक्ष्य को जानता है वह श्रेष्ठ धनुर्धर है, जो अपने शिकार को छोड़ता नहीं। गाँव वालों को जंगली जानवरों से बचाता है तो इंगरी को महाजन की बुरी नजरो से। मुखिया के बेटे होने की भूमिका का निर्वाह करता है। भोला-भाला, मासूम, ईमानदार आदिवासी गुनिया अपने शिकार के इस गुण से गाँव में आये नए ब्रिटिश प्रशासक का भी मन मोह लेता है। दोनों में भाषा, संस्कृति या किसी भी रूप में समानता नहीं है सिवाय शिकार के एक के लिए शिकार शौक है तो दूसरे के लिए ज़रूरत। ब्रिटिश शासक बड़े राजा बाबु गुनिया से "बड़ा शिकार बड़ा इनाम" की बात कहता है। तब गुनिया उसकी हवेली पर जिन्दा हिरनी के शिकार कर कंधे पार लाद कर ले जाता है, पर इनाम देने पर मासूमियत से शरमा जाता है कहता है "मैं खुशी से लाया, तू भी शिकारी मैं भी शिकारी" इसी समय एक नौकर जमीन से खुदाई के दौरान मिली एक खोपड़ी लेकर आता है, तब बुजुर्ग नौकर बताता है कि शायद ये खोपड़ी उसी अँगरेज़ बाबू की है जिसका सिर संथालों ने अलग कर यहाँ दफना दिया था – "हम बचपन से सुनते आये हैं की इस इलाके में लड़ाई हुई थी, घमासान जंग, संथालों ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत कर दी थी। तब एक संथाल ने एक अँगरेज़ खोपड़ी कलम कर दी थी हो न हो, ये खोपड़ी उसी अँगरेज़ की है" संवाद के बाद गुनिया के चेहरे पर भय मिश्रित प्रश्नचिह्न है कि अब बड़े राजा बाबू की क्या प्रतिक्रिया होगी बड़े राजा बाबू भी चुप है, दृश्य सांकेतिक है: अँगरेज़ के हाथ में खोपड़ी है, देर तक उस पर कैमरा, एक तरफ संथाल गुनिया जो अपने शिकार के कारण प्रशंसा का पात्र है दूसरी तरफ अँगरेज़ की

खोपड़ी,संथालो की बगावत का प्रमाण |दोनों पशोपेश में बिना कुछ कहे दृश्य बदल जाता है |यह घटना भविष्य में गुनिया को जेल भिजवाने का अप्रत्यक्ष माध्यम बनती है क्योंकि बड़े राजा बाबू अगर चाहता तो गुनिया को जेल न पहुंचाता,वह गुनिया को एक अच्छा ,ईमानदार सरल व भोला इन्सान मानता है , मगर खोपड़ी ने उसके मन में बदले की भावना का बीज बो दिया था |पूर्व में संथालो ने जो विद्रोह किया था उसकी सजा वर्तमान में गुनिया को मिली |

आज भी आपरेशन ग्रीन हंट के नाम पर बेगुनाह आदिवासियों को उजड़ा जा रहा है तो ROYAL HUNT इनके विद्रोह का हथियार बने तो आश्चर्य नहीं| शिकार करना गुनिया का शौक ही नहीं बल्कि गाँव वालो के हित में वह अपनी जान जोखिम में डालता है उनकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है |शोलपू भी गाँव की आजादी व अस्मिता की खातिर स्वदेशी आन्दोलन मे शामिल हुआ है|एक जंगली जानवरों का शिकार करता है तो दूसरा साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार के लोगो से मुकाबला कर रहा है|तभी खबर आती है कि शोलपू ने अपने गिरोह के साथ मिलकर सरकारी खज़ाना लूटा है तथा एक दरोगा का क़त्ल किया है |जब पूरा गाँव बन-सूअर व अर्जुन के शिकार का नाटक देख रहा था कि अचानक वहां पुलिस का आक्रमण हो जाता है वह अन्धाधुन्ध संथालो को मारने पीटने लगते हैं वे शोलपू को खोज रहे हैं|मगर गाँव वालो के एकता की वजह से डोरा फिर झुठा पड़ जाता है|अगले दिन मुनादी होती है “जबकि हमारी सरकार अमन पसंद सरकार है शोलपू ने उसके साथ बगावत की है डकैत शोलपू गिरोह का सरदार है जो भी उसे पकड़वायेगा सरकार उसे 500रुपये ईनाम देगी”|गाँव वाले इस मुनादी से हैरान हैं क्योंकि शोलपू तो अआज़दी की लड़ाई लड़ रहा है फिर उस पर ईनाम क्यों ?ईनाम के लालच में तथा बदले की भावना से वशीभूत डोरा अँधेरी रात में पुलिस वालो के सामने शोलपू को गोली मार देता है|लेकिन क्रांति का अध्याय शोलपू के साथ समाप्त नहीं होता बल्कि गुनिया इस मशाल को थाम लेता है|जब गोबिंद सरदार के लठेत डूंगरी को उठा ले जाते हैं तो गुनिया महाजन का “बड़ा शिकार” करने निकल पड़ता है आज उसके हाथ में धनुष नहीं कुल्हाड़ी है “जैसा जानवर वैसा ही हथियार” और गुनिया अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा हेतु महाजन को मार देता है।

महाजन को मार कर वो बड़े राजाबाबू की हवेली जाता है उसे विश्वास है आज उसने बड़ा शिकार किया है इसका उसे ईनाम मिलेगा क्योंकि महाजन ने सदा गाँव वालो पर अत्याचार किया,शोषण किया,स्त्रियों को प्रताड़ित किया,आज उसे उसके किये की सजा उसे मिल गई |लेकिन वह हतप्रभ है कि जिस राजा बाबू ने सदा शिकार के लिए ईनाम दिया आज बड़े शिकार पर उसे जेल मे क्यों डाल दिया गया बड़े राजा बाबू कहता है “I know that accused person he is very simple and good man ,honest and state forward...he is a good shikaari...he told me that he killed Gobind sardaar”भाषा भले ही गुनिया ना समझा हो लेकिन भाव समझते उसे देर ना लगी वो जोर से चिल्लाता है “हाँ खून किया जान से मारा ..पर क्यों मारा ये मेरी बहु से पूछो,मेरे बापू से पूछो ,सारे गाँव वालो से पूछोबड़े राजा बाबू आपने तो कहा था बड़ा शिकार बड़ा ईनाम,...आप मुझे बताओ कि शोलपू एक अच्छा लड़का था,डोरा बुरा, शोलपू को मरने के लिए आपने डोरा को 500 रुपये ईनाम दिए और मैंने तो इसे जानवर को मारा है जो सबसे ज्यादा खूँखार है ..तू मुझे यहाँ क्यों लाया ...ऐसा तो कोई पाप मैंने नहीं किया” एक जानवर के मारने पर ईनाम दुसरे जानवर (मनुष्य) को मारने पर फांसी क्यों ?इस सारे घटनाक्रम में गुनिया की ईमानदारी उसकी मासूमियत तथा अंत तक उसका सच्चाई पर टिके रहना कि उसी ने महाजन का क़त्ल किया है ,आदिवासी जीवन-शैली को रेखांकित करती है जो

विचारणीय है क्योंकि खून करते समय गुनिया को किसी ने नहीं देखा ,वह चाहता तो उसे मार कर चुपचाप घर बैठता लेकिन वो ऐसा नहीं करता।क्योंकि आदिवासी संस्कृति मे जानवर को मारना कोई पाप नहीं। तथा अपराध जैसी संकल्पनाए तो सभ्य समाज की देन है जबकि मृगया आदिवासी जीवन के संघर्ष का अहम व अभिन्न अंग है। मृगया फिल्म आदिवासी जीवन के संघर्ष और जिजीविषा को THE ROYAL HUNT के माध्यम से साझा करती है।फांसी के समय चेहरा ढंकने के बाद भी गुनिया चिल्लाता है *“मैंने अपने दुश्मन को मारा है , मुझे जाने दो मैं देखना चाहता हूँ”*

अंतिम दृश्य में सारे गाँव वाले गुनिया से मिलना चाहते हैं मगर मुखिया कहता है कि हमें मिलने कौन देगा ?तब मुखिया कहता है कि *“हम देखेंगे।जब सूरज चढ़े गा वो हमको छोड़कर चला जायेगा हमुसी समय सूरज को देख लेंगे ,सूरज देखते रहेंगे”* डूंगरी बोलती मैं वो रास्ता जानती हूँ जहाँ से सूरज उगे ,खेत- खलिहान,पोखर ,मचान सारी पृथ्वी दिखे।फिल्म का अंत सन्देश दे रहा है कि दबे कुचले सहमे आदिवासी अब उगते सूरज के प्रकाश से जाग चुके हैं।उनके भीतर सिधु, कानू, शोल्पू व गुनिया ने विद्रोह का बीजवपन किया है।अंतिम दृश्य में सभी चट्टान पर हाथ उठाये खड़े हैं मानो सूरज को पकड़े हुए हैं ।जिसका प्रकाश उन्हें आज़ादी का रास्ता दिखायेगा ।

फिल्म कोई भी उपदेश नहीं देती लेकिन जनांदोलन की अपेक्षा रखती है तभी बदलाव के रास्ते खुलेंगे।सामान्तर सिनेमा की जो नई लहर स्त्री व दलितों के विषयो को उठा रही थी वे आदिवासियों के जीवन से अभी दूर थी ।फिल्मो में जो आदिवासी चरित्र आये भी वास्तविक यथार्थ नहीं दर्शाते बल्कि भोंडे मनोरंजन का माध्यम भर है या फिर आदिवासियों के जीवन को नक्सलवाद से जोड़कर परोसा जाता है कि दर्शक भ्रमित हो जाता है कि दोनों में अंतर नहीं कर पाता ।मृणाल सेन की मृगया”द रॉयल हंट”फिल्म आदिवासियों के जीवन को,उनकी समस्याओ व संघर्षो को सहजता व ईमानदारी से दर्शको के सामने रखती है ।मासूम अभिनय के लिए गुनिया यानी मिथुन चक्रवर्ती को बेहतरीन कलाकार का नेशनल अवार्ड मिला,तह बेहतरीन फीचर फिल्म के पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया ।एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य जो सराहनीय है कि *मृणाल जी ने आदिवासी जीवन से जुड़ी उड़िया कहानी का हिंदी भाषा में फिल्मांकन किया ।आदिवासी जीवन को हिंदी का कलेवर देकर उनकी समस्याओ को देश के हर हिस्से तक पहुँचाने का सार्थक कार्य किया ।*

आधार स्रोत :

“मृगया द रॉयल हंट” फिल्म, निर्देशक मृणाल सेन (1976)

संस्कृत-वाङ्मय में जल का महत्त्व एवं उसके संरक्षण के उपाय

अनुला मौर्य

प्राचार्या, कालिन्दी महाविद्यालय
anulamaurya@yahoo.co.in

शोधसार - जल मानव जीवन के लिए प्रकृति प्रदत्त बहुमूल्य उपहार है। जल मानव की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। जल के महत्त्व को बताते हुए रहीम ने लिखा है- रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून। पानी गए न ऊबरे मोती मानुस चून॥ जल पृथ्वी पर अनेक रूपों में विद्यमान है। इसी पृथ्वी पर समुद्र हैं, नदियाँ हैं और वर्षादि के रूप में व्यापक जल है जिसके कारण कृषि होती है और उससे सभी प्राणी तथा चलने वाले गतिशील जीव प्रसन्न होते हैं। हम सभी जानते हैं कि भारत की जनसंख्या विश्व की जनसंख्या की १६% है जबकि यहाँ उपलब्ध जन संसाधनों का मात्र ४% है। देश में जल की उपलब्धता में समय तथा स्थान के अनुसार असमानताएँ पाई जाती हैं। देश का एक तिहाई क्षेत्र सूखे की आशंका से ग्रस्त है। सूखे की समस्या के निदान हेतु हमें उपलब्ध प्राकृतिक जल के सदुपयोग को सुनिश्चित करते हुए इसके दुरुपयोग को नियंत्रित करना होगा। जल एक अतिविशिष्ट प्राकृतिक संसाधन है तथा यह मानव की मूलभूत आवश्यकता है, इसको ध्यान में रखकर जल संसाधन के नियोजन और विकास को सुनिश्चित करने के अहम उद्देश्यों के साथ १९८७ में देश की राष्ट्रीय जल नीति भी घोषित की गई। जल के संरक्षण के लिए सरकार के इन प्रयासों के साथ-साथ व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रयासों की आवश्यकता है। जल संरक्षण के मुद्दे पर चिन्तन आज २१वीं सदी में ही हो रहा है ऐसा समझना गलत होगा। विश्व की प्राचीनतम पुस्तकों के रूप में समादृत वेदों, स्मृति ग्रन्थों एवं पुराणों में पर्यावरण संरक्षण पर नितान्त गम्भीर तथा सूक्ष्म अध्ययन प्राप्त होता है।

जल का महत्त्व

वैदिक ऋषियों तथा मनीषियों ने पर्यावरण में सम्मिलित पर्यावरण के घटक तत्त्वों यथा- वायु, भूमि, जल, वृक्ष, मृदा तथा औषधियों आदि के संरक्षण पर चिन्तन स्वरूप अनेक मन्त्र उद्धृत किए हैं। वैदिक मन्त्रों में मानव जीवन के उपकारक होने के कारण इन तत्त्वों को माता-पिता के समान आदर भाव से सम्बोधित किया गया है। जल से प्रार्थना करते हुए वैदिक ऋषि का वचन है कि जिस प्रकार माताएँ बच्चों को दूध देती हैं वैसे ही हम तुम्हारे रस का सेवन करें-

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।

उशतीरिव मातरः॥¹

¹ ऋग्वेद १०.९.२

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में जल के लिए प्रार्थना की गई है कि शुद्ध जल हमारे शरीर एवं उसकी वृद्धि के लिए प्रवाहित हो-

शुद्ध न आपस्तन्वे क्षरन्तु।²

पृथिवी सूक्त में जहाँ ऋतुएँ गिनाई गई हैं, वहाँ वर्षा ऋतु का उल्लेख ग्रीष्म के पश्चात् किया गया है-

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।

ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥³

इससे भौगोलिक प्रक्रिया का स्पष्ट वैज्ञानिक संकेत मिलता है। इससे ज्ञान होता है कि किस प्रकार ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से वाष्पीकरण द्वारा मेघ बनते हैं और तदनन्तर वृष्टि होती है। पृथिवी पर तथा उसके भीतर अनेक रूपों में जो जल प्राप्त होता है, उसका मूल कारण वर्षा ही है। वर्षा का जल ही पृथिवी द्वारा सोख लिए जाने पर अनेक रूपों में प्राप्त होता है। समुद्र और मेघों का तो निरन्तर आदान-प्रदान चलता ही रहता है। सम्भवतया इसलिए वेद में समुद्र से अन्तरिक्षीय समुद्र तथा पार्थिव समुद्र दोनों अभिप्रेत हैं। यही जल पृथिवी पर विविध अन्न, ओषधियों, वनस्पतियों को उपजाने का मूल आधार है।

जल के विषय में तो यहाँ तक कहा गया है कि जल से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं, यहाँ तक कि इससे आनुवांशिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं- **आपो विश्वस्य भेषजीः, तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्।⁴**

जल को सर्वोत्तम वैद्य बताया गया है - **आपः.....भिषजां सुभिषक्तमाः⁵**। और कहा गया है कि यह आँख, पैर आदि के सभी प्रकार के दर्द को दूर करता है। यह हृदय के रोगों का भी इलाज करता है- **आपो.....हृद्योतभेषजम्।⁶** एक मंत्र में हिमालय से निकलने वाली नदियों के जल को विशेष लाभकारी बताया गया है। बहता हुआ जल शुद्ध और गुणकारी होता है। यह मनुष्य को शक्ति प्रदान करता है। कर्मठता के लिए भी जल और ओषधियों का सेवन करना चाहिए⁷। वर्षा के जल को सबसे उत्कृष्ट और अमृत बताया गया है। इससे सभी रोग दूर होते हैं और दीर्घायु प्राप्त होती है⁸। जल को मानव के जीवन का आधार बताया गया है। यह जीवन के लिए ओषधि का काम करता है⁹

जल संरक्षण के उपाय

हम सभी जानते हैं कि पृथिवी पर, उपलब्ध जल का मात्र १-३% जल ही पीने योग्य है। तृतीय विश्व युद्ध यदि होगा तो वह जल के लिए ही होगा, इस प्रकार की भविष्यवाणियाँ सिद्ध न हो इसके लिए हमें जल संरक्षण के विषय में गंभीरता से विचार करना चाहिए। अथर्ववेद में जल, वायु तथा ओषधियों को तीन 'छन्द' पदार्थ बताया गया है जो सृष्टि के आदि से प्राणियों के उपकार के लिए इस संसार में स्थापित है। 'छन्द' नाम से पर्यावरण में सर्वत्र उपलब्ध इन पदार्थों की महत्ता तथा उनके संरक्षण की आवश्यकता को दर्शाया गया है। तैत्तिरीयारण्यक में जल को स्वच्छ

² अथर्ववेद १२.१.३०

³ अथर्ववेद १२.१.३६

⁴ अथर्ववेद ३.७.५

⁵ अथर्ववेद ६.२४.२

⁶ अथर्ववेद ६.२४.१

⁷ अथर्ववेद ६.२३.१-३

⁸ अथर्ववेद ३.३१.११

⁹ अथर्ववेद १.५.४

बनाए रखने के लिए आग्रह के साथ कहा गया है कि जल में मल एवं मूत्र का विसर्जन न करें- **नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्**¹⁰।

पृथिवी पर नदी, तलाब, वापी, कूप आदि अनेक रूपों में जलस्रोत उपलब्ध हैं जिनसे प्राणी अपनी प्यास बुझाते हैं। मूत्र, मल तथा अन्य गन्दे पदार्थों से इनका संरक्षण आवश्यक है। यह जल संरक्षण का मूलभूत सिद्धान्त है कि हम उपलब्ध जल को प्रदूषित न करें। वैदिक ऋषियों ने जल के गुण, समुचित उपयोग, शुद्धि सुरक्षा आदि के विवेचन द्वारा मन्त्रों में यत्र-तत्र जल संरक्षण के कई सूत्र दिए गए हैं। यजुर्वेद में कहा गया है कि जल को प्रदूषित न करो और वृक्ष-वनस्पतियों को हानि न पहुँचावो- **माऽपो हिंसीः, मा-ओषधीर्हिंसी**¹¹। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि जल को शुद्ध रखो, पौष्टिक गुणों से युक्त करो- **अपः पिन्व, ओषधीर्जिन्व**¹²। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि नदियों आदि के जल को प्रदूषण मुक्त रखने का उपाय है- यज्ञ। यज्ञ की सुगन्धित वायु जल के प्रदूषण को नष्ट करती है- **अपो देवीः....सिन्धुभ्यः क्रत्वं हविः**¹³। पद्मपुराण के क्रियायोगसार में कहा गया है कि गंगा के जल में थूकना, मूत्र करना, कूड़ा-करकट डालना, गंदा जल डालना तथा गंगा के किनारे शौच आदि करना महापाप है। ऐसा करने वाला नरक में जाता है-

**मूत्रं वाऽथ पुरीषं वा गंगातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य कल्पकोटिशतैरपि॥
श्लेषमाणं वापि निष्ठीवं दूषितांब्वश्रु वा मलम्।
उच्छिष्टं कफकं चैव गंगागर्भे च यस्त्यजेत्।
सः याति नरकं घोरं ब्रह्महत्या विन्दति॥**¹⁴

स्मृति-ग्रन्थों में भी जल को प्रदूषण रहित रखने के उपाय बतलाये गए हैं। मनुस्मृतिकार ने मनुस्मृति में बड़े कारखानों को प्रदूषण का कारण मानते हुए इन्हें लगाना पाप माना गया है। इनसे वायु प्रदूषण के साथ-साथ जल प्रदूषण भी होता है। कारखानों का गन्दा पानी नदी और तलाबों आदि को दूषित करता है- **महायन्त्रप्रवर्तनम्.....उपपातकम्**¹⁵।

उपसंहार

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि संस्कृत वाङ्मय में जल के महत्त्व एवं संरक्षण को लेकर विशद चिन्तन किया गया है। प्राचीन साहित्य में भी सरोवरों, तालाबों आदि की चर्चा है। उस काल में भी पानी को संचित करने की व्यवस्था थी। जल विषयक समसामयिक समस्याएँ नितान्त गंभीर हैं। यद्यपि अद्यतनीय काल वैज्ञानिक काल माना जाता है तथापि वैज्ञानिक चिन्तन का अधिक उपयोग तकनीकी क्षेत्र के विकास तक ही सीमित है। हमें वैज्ञानिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त शास्त्रीय सिद्धान्तों को अध्यादिष्ट करना चाहिए। वस्तुतः युग चाहे

¹⁰ तैत्तिरीय आरण्यक १.२६.७

¹¹ यजुर्वेद ६.२२

¹² यजुर्वेद १४.८

¹³ ऋग्वेद १.२३.१८

¹⁴ पद्मपुराण, क्रियायोगखण्ड, ८.८-१०

¹⁵ मनुस्मृति, ११.६३-६६

कोई भी हो प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग एवं संरक्षण ही मानव जीवन की पर्यन्तता है। जैसा कि हमने देखा संस्कृत वाङ्मय में जल को विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण माना गया है। वैदिक ऋषियों की यह दृढ़ अवधारणा रही है कि सभी भौतिक पदार्थ परस्पर अन्तःसम्बद्ध हैं। एक का संरक्षण अन्य के संरक्षण में भी सहायक है जैसे वृक्षों का संरक्षण भूमि की नमी को बनाए रखने में सहायक है। संस्कृत वाङ्मयनिष्ठ चिन्तन की यह विशेषता है कि यहाँ भौतिकता की व्याख्या अध्यात्म की पृष्ठभूमि में की गई है। सभी तत्त्वों में उस परम तत्त्व की अनुस्यूति को दृढ़ता से स्वीकार किया गया है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा¹⁶ ॥

¹⁶ श्रीमद्भगवद्गीता, ७.४

बौद्ध दर्शन के आलोक में नैतिक-मूल्य मीमांसा

अनुला मौर्य

प्राचार्या, कालिन्दी महाविद्यालय

anulamaurya@yahoo.co.in

शोधसार - मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाने का श्रेय उन उदात्त नैतिक मूल्यों को है जिनके माध्यम से वह अपने जीवन में नैतिक मूल्यों का आधान करता है। वस्तुतः किसी भी राष्ट्र का मूल्याङ्कन उसके समाज में व्याप्त मूल्यों के आधार पर ही होता है। उस समाज की धाराणाएँ, आदर्श एवं उच्चतर आकांक्षाएँ ही किसी भी राष्ट्र के व्यक्तियों के जीवन मूल्यों का सृजन करती हैं। भारतवर्ष में जीवन मूल्यों की शाश्वत व अनादि परम्परा प्रवाहमान है। इस प्रवाह की नाना धाराएँ विविध दार्शनिक संप्रदायों में चिन्तन के रूप में उद्भूत हुई हैं। भारतीय दर्शन की आस्तिक एवं नास्तिक परम्पराओं में समानरूप से नैतिक मूल्यों पर अनवरत रूप से गहन-विचारणा होती रही है। नास्तिक दर्शनों में प्रमुख बौद्ध-दर्शन के पुरोधाओं ने जीवन के अपरिहार्य तत्त्व के रूप में विद्यमान नैतिक मूल्यों को अपने दर्शन में केन्द्रीय तत्त्व के रूप में सूक्ष्मतया विवेचित किया है। प्रस्तुत शोध पत्र “बौद्ध दर्शन के आलोक में नैतिक मूल्य मीमांसा” का उद्देश्य बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित नैतिक मूल्यों की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उनकी सायाम व्याख्या करना है।

बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्तों का चयन उस त्रिपिटक साहित्य से किया जा सकता है जिसका संकलन बुद्ध के शिष्यों द्वारा लिया गया माना जाता है। स्वयं भगवान् बुद्ध तो ‘सर्वजन हिताय’ अर्थात् समस्त जनता के कल्याण के लिए उपदेश देते और दुःख से विमुक्ति का उपाय बताया करते थे। बौद्ध दर्शन हमें आन्तरिक द्वन्द्व में जो मानव जीवन का एक विशिष्ट लक्षण है, निकालने का मार्ग दर्शाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य मस्तिष्क, शरीर, इच्छा, उद्देश्य, आशय, रुचि, भाव व तर्क का समुच्चय है। बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के उसे अपने नैतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन के लिए प्रयासरत रहना चाहिए। बौद्ध दर्शन की दार्शनिक विवेचना में मुख्य रूप से चार आर्य-सत्य एवं अष्टाङ्गिक की अवतारणा नैतिक मूल्यों से सम्बद्ध है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन की यह आचार-मीमांसा व्यवहारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि को भी पुष्ट करती प्रतीत होती है।

चार आर्य-सत्य:-

आर्य अर्थात् ‘अर्हत्’ ही जिन्हें सत्य रूप से जानते हैं, उन्हें आर्य-सत्य कहते हैं।¹ ‘अभिधानधर्मकोशभाष्य’ में आचार्य वसुबन्धु ने कहा है कि आर्यजन छोटे से भी दुःख से उद्वेलित हो जाते हैं, पृथक् जन नहीं। जैसे ऊन के धागे का सिरा जब हथेली पर होता है, तब सत्त्व उसे अनुभव नहीं करता, किन्तु वही जब आंख में पड़ जाता है, तब बड़ी

¹ भारतीय दर्शन पृ. १६०

पीडा उत्पन्न करता है। यहाँ पृथक् जन हथेली के समान हैं, जो दुःखरूपी धागे के शिरे को नहीं समझते और विद्वज्जन आंख के समान हैं, जो थोड़े से दुःख से बहुत उद्विग्न हो जाते हैं-

ऊर्णापक्षम यथैव हि करतलसंस्थं न वेधते पुम्भिः अक्षिगतं तु तथैव हि जनयत्यरतिं च पीडां च।
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्षम अक्षिसदृशस्तु विद्वांस्तेनैवोद्वेज्यते गाढम्।²

चार आर्य-सत्य निम्न प्रकार से हैं-

१. दुःख
२. दुःख समुदय
३. दुःख निरोध
४. दुःख निरोध मार्ग

१. दुःख -

बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित चार आर्य-सत्यों में प्रथम आर्य-सत्य 'दुःख' है। संसार से प्राणियों को निरन्तर दुःख में देखकर बुद्ध ने निश्चय किया कि संसार में दुःख है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। सामान्य बुद्धि के लोगों के लिए संसार में दुःखों के साथ-साथ सुख का भी आगार है। 'धम्मपद' में कहा गया है कि सुख मानने से दुःख और भय उत्पन्न होता है, क्योंकि सम्पूर्ण संसार आग से जल रहा है और तब उसमें आनन्द का अवसर ही कहा?

को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।

अन्धकारेण ओनद्धा, पदीपं न गवेसय।।³

२. दुःख समुदय -

दूसरा आर्य-सत्य 'दुःख समुदय' है। समुदय का अर्थ है - कारण। अतः दुःख समुदय का अर्थ है- दुःख का कारण। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता। जब दुःख कार्य है तो उसका कारण भी निश्चित होगा। बौद्ध दर्शन में दुःख की उत्पत्ति का कारण 'तृष्णा' को बतलाया गया है। धम्मपद में कहा गया है कि धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बन्धन को दृढ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ बन्धन है सास्वत् पदार्थों में आसक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का न होना-

न तं दलं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजं पब्बजं च।

सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेषु, पुत्तेषु दारेसु च या अपेक्खा।।⁴

३. दुःख निरोध -

तृतीय आर्य-सत्य का नाम 'दुःख निरोध' है। 'निरोध' शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। दुःख निरोध में तृष्णा की निरवशेष समाप्ति हो जाती है। दुःख निरोध के विषय में भगवान् बुद्ध कहते हैं- "इदं खो पन भिक्खवे दुःख निरोधं अरियसच्चं। सो तस्यायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो"। अर्थात् दुःख

² अभिधम्मकोशभाष्य पृ. ३२९

³ धम्मपद पृ. १४६

⁴ धम्मपद, ३४५ गाथा

निरोध आर्य-सत्य उस तृष्णा से अशेष-संपूर्ण वैराग्य का नाम है, उस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय यही है।

४. दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद् –

प्रतिपद् का अर्थ है मार्ग। यही चतुर्थ आर्य-सत्य है जो दुःख निरोध तक पहुँचाने वाला मार्ग है। यह आध्यात्मिक और नैतिक साधना का मार्ग है, जिसे आर्य ‘अष्टाङ्गिक मार्ग’ की संज्ञा दी गयी है। भगवान् बुद्ध ने इस दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् या अष्टाङ्गिक मार्ग को मध्यमा प्रतिपद् या मध्यम मार्ग की संज्ञा दी है। इसके विषय में बुद्ध का वचन है-

भिक्षुओं ! प्रवज्या लेने वाले को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। कौन से दो अन्त? एक तो कामसुखों में आसक्ति जो हीन है, ग्राम्य है, पृथग्जनोचित है, अनार्य है और और अनर्थों की जड है। दूसरी आत्मपीडा में आसक्ति, जो दुःखमय है, अनार्य है और अनर्थों की जड है। भिक्षुओं ! इन दोनों अनर्थों को छोड़कर तथागत ने मध्यममार्ग का साक्षात्कार किया है।⁵

वस्तुतः अष्टाङ्गिक मार्ग बौद्ध दर्शन की आचार-संहिता का चरम साधन है। बौद्ध दर्शन में आचार की प्रधानता है। तथागत निर्वाण के लिए तत्त्वज्ञान के जटिल मार्ग पर चलने की शिक्षा कभी नहीं देते, प्रत्युत तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर में वे मौनावलम्बन ही श्रेय समझते हैं।

अष्टाङ्गिक मार्गों का वर्णन निम्न प्रकार से है-

१. सम्यक् दृष्टि-

दृष्टि का अर्थ ‘ज्ञान’ है। आचार और विचार का परस्पर संबन्ध नितान्त घनिष्ठ होता है। विचार की भित्ति पर आचार खड़ा होता है। इसी लिए इस आचार मार्ग में सम्यग् दृष्टि पहला अङ्ग मानी गयी है। कर्म (कायिक, वाचिक एवं मानसिक) दो प्रकार के होते हैं- कुशल (भले) और अकुशल (बुरे)। इन दोनों को भलिभाँति जानना ही सम्यग् दृष्टि कहलाता है। ‘मज्झिमनिकाय’ में इन कर्मों का विवरण इस प्रकार है⁶ -

		अकुशल	कुशल
कायकर्म	१	प्रानातिपात (हिंसा)	अहिंसा
	२	अदत्तदान (चोरी)	अचौर्य
	३	मिथ्याचार (व्यभिचार)	अव्यभिचार
वाचिक कर्म	४	मृषावचन (झूठ)	अमृषावचन
	५	पिशुनवचन (चुगली)	अपिशुनवचन
	६	परुषवचन (कटुवचन)	अकटुवचन

⁵ विनय पिटक १, १, ७

⁶ मज्झिमनिकाय, बौद्धदर्शन मीमांसा में उद्धृत पृ. ५५

	७	संप्रलाप (बकवाद)	असंप्रलाप
मानस कर्म	८	अभिध्या (लोभ)	अलोभ
	९	व्यापाद (प्रतिहिंसा)	अप्रतिहिंसा
	१०	मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)	अमिथ्यादृष्टि

२. सम्यक् संकल्प -

सम्यक् संकल्प का अर्थ यथार्थः विचार अथवा चिन्तन है। सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् निश्चय होता है। यह निश्चय निष्कामना, अद्रोह तथा अहिंसा का होता है। कामना ही सभी दुःखों की उत्पादिका है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इन बातों का दृढ संकल्प करना चाहिए कि वह विषय की कामना न करेगा, प्राणियों से द्रोह न करेगा और जीव हिंसा न करेगा।

३. सम्यक् वाक् -

सम्यक् वाक् यह वाणी की पवित्रता और सत्यता है। असत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, इसपर सभी दर्शन एकमत हैं। सत्य बोलना मानव का धर्म है। प्रया वचन बोलना ही सत्य का भूषण है। धम्मपद में कहा गया है कि वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत अवैर से ही होती है।⁷ त्रिपिटक में झूठ, पैशुन्य (चुगली), पारुष्य वचन (कठोर वाणी) आदि से विरति ही सम्यक् वाक् कही गयी है।

४. सम्यक् कर्मान्त -

वाणी के बाद कर्म के द्वारा मनुष्य के संकल्प की अभिव्यक्ति होती है। हिंसा, स्तेय और इन्द्रिय-लोलुपता से सदा बचकर अपने कार्यों को करने का नाम सम्यक् कर्मान्त है। पाच कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। इन्हीं की संज्ञा है- पञ्चशील। पञ्चशील के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादि परिगणित हैं। इन कर्मों का अनुष्ठान सभी के लिए विहित है। धम्मपद में कहा गया है कि इनका परित्याग करने वाला व्यक्ति अपनी ही जड़ खोदता है-

यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।

लोके आदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति॥

सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति।

इधेवमेसो लोकस्मि मूलं खनति अत्तनो॥⁸

५. सम्यक् आजीव -

⁷ न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचना अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ धम्मपद १/५

⁸ धम्मपद १८-१२/१३

सम्यक् आजीव का अर्थ है सत्त्वों के जीवन-यापन के सत्साधन। व्यक्ति विष, शास्त्र, मदिरा, झूठे नाप-तौल से ग्राहकों को धोखा देकर, इत्यादि प्रकार से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ये सभी मिथ्या आजीव के साधन हैं तथा इन सभी साधनों का सहारा न लेकर सदाचरण से जीवन-यापन करना ही सम्यक् आजीव है⁹।

६. सम्यक् व्यायाम –

व्यायाम का अर्थ यहाँ पर प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ है। अकुशल धर्मों का त्याग करना और कुशल धर्मों का उपार्जन करना ही सम्यक् व्यायाम अदि। इन्द्रियों का संयम, बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न एवं अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयत्न ये सभी सम्यक् व्यायाम कहलाते हैं।

७. सम्यक् स्मृति –

स्मृति का अर्थ है स्मरण। स्मृति हिताहित का अन्वेषण कर, अहित का त्याग कर हित का आदान करती है। सम्यक् स्मृति के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध का कहना है – “उसका तात्पर्य शरीर को अग्नि, जल और पृथ्वी का पिण्ड ही करके मानना यथार्थ है। श्मशान आदि में जाकर इस शरीर की दुर्गतति को प्रत्यक्ष देखकर कौन उसे सुख-मूल कह सकता है? शरीर मांस, रुधिर, अस्थि आदि से निर्मित केवल मूत्र-पुरीष का पात्र ही है। यह आसक्ति का विषय कैसे और किसके लिए हो सकता है। इस प्रकार की सम्यक् स्मृतियों से भी मनुष्य संसार के दुःखरूप और उससे अनासक्त रहने की भावनाएँ दृढ़ करने में समर्थ होता है¹⁰।”

८. सम्यक् समाधि –

कुशल चित्त की एकाग्रता को ‘समाधि’ कहा गया है। समाधिस्थ व्यक्ति क्रोध, आलस्य, पछतावा, और सन्देह से विगत होता है। यह चित्त की एकाग्रता द्वारा निर्विकल्पक प्रज्ञा की अनुभूति है।

उपर्युक्त आठों अङ्ग शील, समाधि एवं ‘प्रज्ञा’ में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सम्यग् दृष्टि और सम्यक् प्रज्ञा में, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव ‘शील’ में तथा शेष सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृत और सम्यक् समाधि ‘समाधि’ में। यही शील, समाधि एवं प्रज्ञा बौद्धों के त्रिरत्न माने जाते हैं।

उपसंहार –

प्रस्तुत शोध पत्र में बौद्ध दर्शन में निहित नैतिक-मूल्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मूल्यों की सायाम व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इन नैतिक मूल्यों के कारण ही बौद्ध धर्म जनसामान्य का धर्म

⁹ दीर्घनिकाय १/५

¹⁰ डा. नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री- भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ. ११३

कहलाया। विभिन्न ऐतिहासिक सन्दर्भ इस विषय में प्रमाण हैं। वह बौद्ध धर्म का नैतिक उत्स ही था कि जिसका सम्राट अशोक जैसे चक्रवर्ती राजा ने 'धम्म' के रूप में बौद्ध मत का प्रचार-प्रसार किया।

अतः बौद्ध धर्म अपने नैतिक मूल्यों के कारण प्रारम्भ से ही भारतीय समाज को जोड़ने और राष्ट्रधर्म के पथप्रदर्शन में अग्रणी रहा है।

प्राचीन साहित्य में प्रतिपादित विश्वशान्ति-संकल्पना की वर्तमान समय में प्रासंगिकता

अनुला मौर्य

प्राचार्या, कालिन्दी महाविद्यालय

शोधसार . आज व्यक्ति और व्यक्ति के बीच वैमनस्यता की खाई बढ़ती जा रही है। विभिन्न समुदायों के बीच जाति, धर्म, नस्ल के नाम पर आये दिन झगड़े हो रहे हैं और दुनिया विभिन्न सभ्यताओं के संघर्ष के मुहाने पर आ रही है। धर्म व नस्ल के नाम पर भोले-भोले युवाओं का मस्तिष्क धवन कर ;उत्पन्दी कर आतंक व कलह की दुनियाँ में धकेला जा रहा है तथा यह विनाश के कगार पर खड़ा मृत्यु के गोद में धड़ाधड़ चला जा रहा है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ में लगा हुआ है उसे आज कुछ भी स्वहित की भावना के अतिरिक्त दूसरे के हित की भावना दिखाई नहीं दे रहा है। इसके साथ-साथ ही वह अशांत मन और भयानक वातावरण का निर्माण करने में लगा हुआ है। उसे उचित अनुचित का ज्ञान ही नहीं रह गया है। इसलिए सम्पूर्ण विश्व एक बहुत बड़ी अशान्ति के दौर में पहुँच चुका है।

शब्दकोश में 'शान्ति' शब्द शम् धतु एवं क्तिन् प्रत्यय के योग से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है प्रशमन, निराकरण, सात्वता एवं हटाना है। अर्थात् 'शान्ति' शब्द का अर्थ वैरनिर्गो, आवेश का भाव एवं सभी सांसारिक भोगों के प्रति पूर्ण उदासीनता इत्यादि है। ;संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आपटे, पृष्ठ 1011

विश्वशान्ति कैसे और किस प्रकार से स्थापित हो सकती है यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस विषय में कह सकते हैं कि विश्वशान्ति के लिए भाईचारे की भावना सबसे पहले जरूरी है क्योंकि भाईचारे, मेल-मिलाप की भावना और परस्पर हित-चिन्तन की भावना विश्वशान्ति की दिशा में महान एवं सार्थक कदम होगा। विश्वशान्ति के लिए अपने ही समान दूसरे को समझना होगा और अपने ही तरह दूसरे के साथ आचरण करना होगा।

विश्व शान्ति और विश्व को समान दशा में लाने के लिए हमें मानव कल्याण समारोह का आयोजन करना चाहिए। इसके द्वारा जन-जन में प्रेरणा जगानी चाहिए कि हमें किस प्रकार से अमानवीय और पाशविक दुर्भावनाओं से बचना चाहिए। हमारे अन्दर जो शठता, दुर्जनता एवं दानवता का प्रवेश हो चुका है वह किस प्रकार से समाप्त हो सकती है तथा किस प्रकार से सज्जनता एवं मानवता उत्पन्न हो सकती है। इनके लिए हमें विभिन्न प्रकार की सकारात्मक प्रेरणा देनी चाहिए। सर्वप्रथम भौतिक वादी दृष्टिकोण का परित्याग करते हुए प्रकृतिगामी और प्रकृतिवादी दृष्टिकोणों को अपनाना चाहिए। सर्वप्रथम मानव समाज भौतिकता के बने जंगल से आध्यात्मिकता के सपाट के मैदान की ओर लौट आये जिसका अनुसरण हमें पुरातन काल के षियों और मुनियों के अलौकिक और दिव्य जीवन सन्देश को समझने के लिये बाध्य होना होगा। ऐसा नहीं है कि विश्वशान्ति के प्रयास में हमारे महान दार्शनिकों और महात्माओं एवं उनके ग्रन्थों ने योगदान नहीं दिया है बल्कि उनके जीवन सि(ल्लों और आचरणों के महानतम रूप को समझा कर विश्वशान्ति का एक उपदेश दिया। इसके परिणामों को हमें समझ करके एक-दूसरे को प्रभावित करना होगा, तभी विश्वशान्ति सार्थक और टोस रूप में स्थापित हो सकेगी। इस प्रकार वेदों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, पुराणों, बौ(एवं जैन ग्रन्थों में सर्वत्र ही सदाचार, भाईचारा, एकता एवं सहभागिता इत्यादि का उपदेश देते हुए शान्ति का आ(वाहन किया है।

हमारे वेदों में समग्र विश्व को स्नेह, साहचर्य, सहयोग, ममता एवं विश्व बन्धुत्व की शिक्षा प्रदान की गयी है। इस समत्व एवं ममत्व का अनुपम आदर्श हमें चतुः संहिताओं में देखने को मिलता है। ग्वेद के सामनस्य सूक्त की एक कविता में कवि कह रहा है कि-

सं गच्छध्व सं वो मनासि जानताम।

देवा भागं यथा पूर्वं संजनानाम उपासते॥

अर्थात् हम सब आपस में मिलकर चलें, मिलकर बोले, यथा योग्य दापित्व भाग ले, मिलकर मन्त्रणा करें, समितियों में समान अधिकार समझें, उद्देश्य में हार्दिक समानता रखें तथा सब साथ-साथ काम करें। ग्वेद के इस काव्य में जिस वैश्विक पारस्परिक समरसता का निरूपण हुआ है वह भूत, वर्तमान, भविष्य के मानवों को उनके मौलिक जीवन का सदोपदेश दिया है।

अथर्ववेद के संगठन सूक्त में एकता और आवश्यकता का उत्कृष्टता भाव देखने को मिलता है। इस सूक्त ने कवि ने जनमानस के कल्याणार्थ जिस मार्मिक एवं हृदयावर्जक उपदेश को दिया है वह अत्यन्त ही उपादेक एवं लांकोपकारी है। पारिवारिक समरसता, सामाजिक पारस्परिक सामञ्जस्य, आपसी सौहार्द एवं भावृत्व का अतृटा निर्देशन इस सूक्त में हुआ। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कवि गृहस्थों को

उपदेश देते हुए बतला रहा है कि हे गृहस्थो! तुम सब समान हृदय रखो। एक-दूसरे से विद्वेष मत करो। आपस में निर्वैरता हो जाओ। प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरे को ऐसे चाहो जैसे गाय तुरन्त उत्पन्न हुए बछड़े को प्यार करती है।

परोपकार, धर्म और प्रेम की पावन गंगाधरा प्रवाहित करते हुए कवि अथर्ववेद के सप्तम मन्त्र अतृटा संगम प्रस्तुत करते हुए विश्व के व्यक्तियों को बतला रहा है कि-हे गृहस्थो! मैं तुम्हें धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त करता हूँ। सायं-प्रातः प्रेमपूर्वक मिला करो। परस्पर तथा योग्य अभिवादन करके।

इस प्रकार हमारी पियों की गजब संकल्पना थी। इसी संकल्पना को दोहराते हुए प्रकृति के द्वारा समाज को उपदेश दिया है कि-
शान्ताः शान्ता पृथिवी शान्तिमिदमुर्वन्तरक्षिना।

शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्तयोवा॥

अर्थात् आकाश, पृथ्वी, जल इत्यादि हमारा शान्त रहे क्योंकि सृष्टि का यही नियम है कि वही शान्ति प्रदान कर सकता है जो स्वयं शान्त हो।

वेद के शिवसंकल्प सूक्त में कामना की गई है कि 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो। क्योंकि मन सभी कर्मों का अगुआ है। किसी भी कार्य का जन्म सर्वप्रथम मन में होता है। अतः जैसी मन की भावना होती है वैसा ही कार्य होता और उसी के अनुरूप पफल भी प्राप्त होता है। अकुशल मन से किये गये कार्य का पफल अशुभ होता है। इसलिए समाज या देश को सर्वप्रथम मन में शुभ संकल्प पैदा करने होंगे यदि मन शुभ संकल्पों वाला होगा तो शान्ति सम्पूर्ण जगह अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में स्थापित हो जायेगी।

आगे चलकर पि कहते हैं कि-**'उफँ सहनाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं कर्वावहै, तेजस्वीनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहो। उफँ शान्ति! शान्ति! शान्ति!'** अर्थात् हम साथ-साथ भोजन करो साथ-साथ पराक्रमी होंगे, हम सभी का किया हुआ अध्ययन तेजस्वी हो और हम किसी से द्वेष ना करें। इस प्रकार सभी की भावना यदि संसार के सभी प्राणियों में व्याप्त हो जाय तो शान्ति स्वतः स्थापित हो जायेगी। क्योंकि जब तक व्यक्ति यह सोचता रहेगा कि अमुक व्यक्ति ने मुझे डाँटा, मुझे मारा, मुझे जीत लिया, मुझे लूट लिया तो उसका वैर कभी समाप्त नहीं होगा और शान्ति भी कभी स्थापित नहीं होगी। इस वैर की शान्ति तभी संभव है जब मन में मैत्री आदि कुशल भावनाओं का वास होगा।

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण में शान्ति की संकल्पना प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती है। क्योंकि भगवान राम ने अपनी पत्नी के हरण किये हुए व्यक्ति रावण के पास बार-बार शान्ति संदेश हनुमान एवं अंगद को शान्ति द्रुत बनाकर भेजा और कहा कि रावण यदि सीता को सम्मान पूर्वक लौटा दे और यु(अर्थात् अशांति का आमंत्रण न दे) क्योंकि यु(से विनाश एवं अशांति का ही जन्म होता है-

वेदव्यास कृत महाभारत में भी भगवान श्रीकृष्ण कौरवों के दरबार में शान्ति सन्देश को लेकर गये थे और प्रस्ताव रख था कि कौरव अर्थात् धृतराष्ट्र यदि पाण्डवों को पाँच गाँव ही मात्र दे दे तो अशांति का वातावरण अर्थात् यु(की दिशा व दशा खत्म हो जायेगी तथा साथ-साथ पले व बड़े व साथ-साथ चले की भावना स्थापित होकर शान्ति सर्वत्र स्थापित हो जायेगी।

ऐसे में तथागत भगवान गौतम बु(के भी विचार मानव कल्याण के लिए सम्पूर्ण मानव समुदाय की दुःख-मुक्ति के लिए तथा समस्त विश्व के लिए, विश्व के कल्याण के लिए आज भी उतने ही प्रासंगिक है जितने कि ढाई हजार वर्ष पहले थी।

बौ(धर्म का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है। यहाँ आत्मा-परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। इस पृथ्वी पर रहते हुए मनुष्य का मनुष्य के प्रति कर्तव्य क्या है, यही महात्मा बु(की पहली स्थापना है। विश्व के सारे धर्मों में जो स्थान ईश्वर या गॉड का है, बौ(धर्म में यही स्थान सदाचार ;शीलद्ध को प्राप्त है।

बु(ने पंचशील की शिक्षा दी है, जो बौ(दृष्टि से श्रेष्ठ मानव मूल्य है। मानव कल्याण के प्राणी हत्या से विरत ;दूर रहनेद्ध की शिक्षा ग्रहण करता है। मैं बिना दिये किसी वस्तु को लेने ;चोरीद्ध से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता है। मैं किसी काम व्यभिचार से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता है। मैं झूठ बोलने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। मैं किसी भी प्रकार की मदिरा एवं अन्य मादक वस्तुओं के सेवन से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

'पाणातिपाता वेरमणि सिक्खापदं समादियामि, अदिन्नादाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि, कामेसुमिच्छारा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि, मूसावादा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि, सुरामेय मज्ज पमाहदृष्टा वेरमणि सिक्खा पदं समादियामि' ;धम्मपदद्ध

महात्मा बु(के विचार विकास, परिवर्तन और बदलाव की ओर संकेत करते हैं। बु(ने मनुष्यता और मानवता की बात कही है। बु(ने बु(त्व लाभ के तुरन्त बाद कहा था कि मैं जीवन में अतिवाद को त्यागने का और मध्यम मार्ग अपनाने का उपदेश देता हूँ। बु(का मध्यम मार्ग

दुनियाँ के सभी दर्शनों में और मानवीय जीवन में सबसे कान्तिकारी दर्शन है। यही मध्यम मार्ग सम्यक् कान्ति का मार्ग है, व्यक्ति के विकास से, बन्धों से मुक्ति का मार्ग है।

भगवान बु(के विचार से 'यं किञ्चि समुदयध्मं सध्वं तं निरोध ध्मं' अर्थात् जो कुछ भी उत्पन्न होने वाला है वह सब निरोध को प्राप्त होने वाला है। सृष्टि में शाश्वत, स्थिर, अचल, अमर ऐसा कुछ भी नहीं है। सब कुछ 'अक्ता' 'अनित्य' है तथा इस संसार में कुछ भी अपना नहीं है। बु(ने सृष्टि में किसी भी चीज को शाश्वत और सनातन नहीं माना है। सृष्टि में विमान हर चीज 'उपज्झिवा निज्झति' अर्थात् उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली है।

भगवान बु(की शिक्षाओं का उद्देश्य उन लोगों को उत्तम मार्ग दिखाना था, जो मार्ग से भटक गये थे। अच्छे कार्यों को छोड़कर बुरे कार्यों में संलग्न थे।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अथवा संसार का कोई भी देश बु(द्वारा प्रतिपादित सि(ान्तों का अनुगमन करते हुए जीवन यापन अथवा आचरण करने लगे तो संसार से उन सभी प्रकार की अमानवीयता और अन्याय का अवसान हो जायेगा और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो जायेगा।

बौ(धर्म के विचारों के बारे में स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो वक्तव्य में इस प्रकार व्यक्त किया है-**मैं बौ(धर्मावलम्बी नहीं हूँ पर यह कहना गलत न होगा कि मैं बौ(हूँ।** शिकागो धर्म महासभा में 16 वक्तव्य

इस प्रकार जैन धर्म के संस्थापक प्रभु महावीर स्वामी ने भी 'जीओ और जीने दो' का उपदेश दिया। इन्होंने कहा कि 'अहिंसा परमो धर्मः' अर्थात् प्राणियों का अनालम्भ ; न मारा जाना, हानि भूतों ; जीवों की अविहिंसा, सम्बन्धियों के प्रति उचित बर्ताव, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उचित बर्ताव माता और पिता की सुश्रुषा तथा वृ(; स्थविर्गणों की सुश्रुषा में वृ(ये तथा अन्य बहुत प्रकार के धर्माचरण वर्धित हुए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सदग्रन्थों, महान आत्माओं एवं फुलों के परिवर्तनवादी विचारों को स्वीकार करके सर्वत्र अर्थात् विश्व शान्ति की स्थापना की जा सकती है और इन्हीं विचारों को स्वीकार कर अपने समाज की कई बुराइयों और असंगतियों को नष्ट किया जा सकता है और जो शेष है उनको नष्ट करने के लिये लोग मानसिक रूप से व्यवस्थित हो सकते हैं।

इसलिए आज विश्वशान्ति की आवश्यकता बहुत अधिक तेज हो गयी है। क्योंकि इसका मुख्य कारण यह है कि विश्व के अनेक सबल राष्ट्र एक दूसरे निर्बल और शक्तिहीन राष्ट्र को अपने चंगुल में पकसाये रखने के लिए भारी जोग किया करते हैं। इसके लिए वे अपने निजी शक्ति और आवश्यकताओं को बढ़ाते जा रहे हैं। इसके साथ ही अपने संपर्कों अन्य शक्ति हीन और छोटे राष्ट्रों के प्रति उकसाने या उभाड़ने की कोशिश में बगबर लगे रहते हैं। इस प्रकार आज पूरा विश्व कई भागों में बँटा हुआ परस्पर विनाश के गर्त में पहुँचने के लिये नित्य जोग करते हुए दिखाई देता है। इसलिए आज विश्व की शान्ति की आवश्यकता बढ़ती जा रही है और यह सौभाग्य का विषय है विश्व के कई बड़े राष्ट्र विश्व शान्ति के प्रयास की दिशा में प्रयत्नशील दिखाई दे रहे हैं और प्रथम एवं द्वितीय विश्व यु(के भयंकर परिणामों और इससे प्रभावित आज के जीवन स्वरूपों पर भी विचार करते हुए ठोस एवं प्रभावशाली कदम उठाते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ अपने को शामिल कर रहे हैं। क्योंकि यहाँ पर ही पारस्परिक झगड़ों और संघर्षों को हल किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विश्व के जो पिछड़े और दुःखी राष्ट्र हैं उनको हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हुए विश्व स्तर पर कोई संयुक्त संस्था की स्थापना अवश्य करनी चाहिए। गुट निरपेक्ष संस्थान इस दिशा में काफी सफल और उचित प्रयास है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि प्राचीन साहित्य एवं महाफुलों के विचारों में विश्वशान्ति के मार्ग को खोजा जा सकता है और उन्हें अपनाकर, व्यवहार में लाकर समस्त विश्व साम्प्रदायिक सदभाव के बन्धन में बँध सकता है एवं एक हो सकता है।

वैश्विक पर्यावरण प्रदूषण को शमन करने में सहायक वैदिक उपाय

अनुला मोर्य

प्राचार्या, कालिन्दी महाविद्यालय

शोधसार . पर्यावरण उन समस्त ब्राह्म दशाओं और प्रभावों का योग है जो प्राणी के जीवन और विकास पर प्रभाव डालते हैं। वस्तुतः पर्यावरण प्रकृति भाषा के शब्द म्दअपतवदमत से बना है। जिसका अभिप्राय आसपास के वातावरण से है। पर्यावरण संकट आज विश्व वसुध के लिये चिन्ता का विषय है। भारतीय लोग अधिकांशतया धार्मिक और सांस्कृतिक होते हैं। भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में भी वृक्षों, वनस्पतियों की पूजा के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण की बात भी देखने को मिलती है। पर्यावरण ;परि और आवरणद्व दो शब्दों के योग से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है चारों ओर से घिरा हुआ तथा पर्यावरण में दूषक पदार्थों के प्रवेश के कारण प्राकृतिक संतुलन में पैदा होने वाले दोष को प्रदूषण कहते हैं। प्रदूषक, पर्यावरण और जीव जन्तुओं को नुकसान पहुँचाते हैं। प्रदूषण का अर्थ हवा, पानी, मिट्टी आदि का अवांछित द्रव्यों से दूषित होना है। जिसका सजीवों पर प्रत्यक्ष रूप से विपरीत प्रभाव पड़ता है तथा पारिस्थितिक तंत्र को नुकसान द्वारा अन्य अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ते हैं। वर्तमान समय में पर्यावरणीय अवनयन का यह एक प्रमुख कारण है।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण की रक्षा हेतु अनेक तत्त्वों का वर्णन मिलता है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश की शुद्धता तथा इनको प्रदूषण रहित रखने के अनेक मन्त्रों का वर्णन मिलता है। पर्यावरण के घटक कौन-कौन से हैं? विश्व की रक्षा कौन-से तत्त्व करते हैं? पर्यावरण को किस प्रकार शुद्ध रख सकते हैं? उसको शुद्ध रखने के तरीके कौन-से हैं? इन जिज्ञासाओं का समाधान वैदिक वा मय में उपलब्ध है।

अथर्ववेद में पर्यावरण के तीन घटक जल, वायु तथा औषधियाँ बताये गये हैं। ये घटक पृथ्वी के चारों ओर हैं तथा मनुष्य को प्रसन्नता प्रदान करते हैं। इसलिये इन्हें छन्दस् ;छन्दस् कहा गया है। इनके अनेक प्रकार के नाम तथा रूप हैं। इसलिए इन्हें पुरुषरूपम् भी कहते हैं। प्रत्येक लोक को ये तत्त्व अपने जीवन को भली-भाँति संचालन करने के लिए प्रदान किये गये हैं-

त्रीणि छन्दांसि कवयो वियेतिरे, फुरुर्यं दर्शतं विश्वचक्षणम्।

आपो वाता ओषध्यः तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि॥

सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि पर्यावरण के मुख्य घटक जल तथा वायु हैं लेकिन उपर्युक्त मन्त्र से यह प्रतीत होता है कि वैदिक काल में औषधियों को भी पर्यावरण का प्रमुख अंग माना गया था। जैसे जल तथा वायु के बिना जीवन सम्भव नहीं है उसी प्रकार औषधियों के बिना भी जीवन सम्भव नहीं है। क्योंकि किसी भी रोग के निदान हेतु सर्वप्रथम औषधियों की आवश्यकता होती है अन्यथा रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। औषध-वनस्पतियों के महत्त्व को वेदों में बहुत सुन्दर तरीके से प्रस्तुत किया है। वेद तथा स्मृतियों में पर्यावरण प्रदूषण के निम्न कारण बताये हैं-1.वायु प्रदूषण 2.जल प्रदूषण 3.भूमि प्रदूषण 4.यांत्रिक उपकरण प्रदूषण। इन प्रदूषणों को रोकने के विभिन्न उपायों का भी वेदों में वर्णन मिलता है।

वायु प्रदूषण-

वायु पृथ्वी पर जीवन का आधारभूत तत्त्व है। इसके द्वारा ही हमें प्राणवायु ऑक्सीजन प्राप्त होती है। जो श्वास के रूप में हमारे शरीर में आवागमन करती है। इसलिये जीवन की रक्षा हेतु वायु प्रदूषण को प्रभावी रूप से रोकना आवश्यक है अन्यथा दूषित वायु के सेवन से अनेक प्रकार की बीमारियाँ होने की सम्भावना रहती है तथा जीवन संकट में पड़ जाता है। वातावरण में रसायन तथा अन्य सूक्ष्म कणों के मिश्रण को वायु प्रदूषण कहते हैं। सामान्यतः वायु प्रदूषण, कार्बन मोनो आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड, क्लोरोफ्लोरो कार्बन ;सीएफसीड और उद्योग और मोटर वाहनों से निकलने वाले नाइट्रोजन आक्साइड जैसे प्रदूषकों से होता है। धुआँसा वायु प्रदूषण का परिणाम है। धूल और मिट्टी के सूत्र कण साँस के साथ फफेफड़ों में पहुँचकर कई बीमारियाँ पैदा कर सकते हैं।

अथर्ववेद में मन्त्रों द्वारा निर्देश दिया है कि पर्यावरण संरक्षण हेतु वायु की शुद्धता आवश्यक है। इसमें वायु तथा सूर्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये इन्हें जगत् का रक्षक बताया है। ये अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं तथा सभी प्रकार के रोगों को नष्ट करते हैं। वायु में दो प्रकार

¹ vFkoZosn 18-1-17

के गुण बताये गये हैं- पहला प्राणवायु के द्वारा मनुष्य में जीवनशक्ति का संचार तथा दूसरा अपान वायु द्वारा दोषों को शरीर से बाहर निकालना। इसलिये वायु को विश्व भेषज भी कहा है-**आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रूपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां इत ईयसो।**²

ग्वेद के एक मन्त्र में कहा है कि वायु में अमृत रूपी ऑक्सीजन है उसे बचाना चाहिए। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे वो दूषित हो-**नू चिनु वायेमृतं विदस्यत।**³ इसलिए हमें वायु की सम्पूर्ण तरीके से रक्षा करनी चाहिये जिससे पृथ्वी पर जीवन सुचारु रूप से चलता रहे।

ओजोन परत-

पृथ्वी का वातावरण स्तरीय है। पृथ्वी के नजदीक लगभग 50 किमी उफचाई पर स्ट्रेटोस्फ़ीयर है जिसमें ओजोन स्तर होता है। यह स्तर सूर्य प्रकाश की परावर्तनी ;ऋद्धकिरणों को शोषित कर उसे पृथ्वी तक पहुँचने से रोकता है। आज के ओजोन स्तर का तेजी से विघटन हो रहा है। दक्षिण ध्रुव विस्तारों को ओजोन स्तर का विघटन 40-50 प्रतिशत हुआ है। इस विशाल घटना को ओजोन छिद्र ;ओजोन होलद्ध कहते हैं। मानव आवास वाले विस्तारों में भी ओजोन छिद्रों के पकैलने की संभावना हो सकती है। परन्तु यह इस बात पर आधार स्त्रता है कि गैसों की जलवायुवीय परिस्थिति और वातावरण में तैरती अशु(रियों के अस्तित्वों पर है।

ध्रुवीय प्रदेशों पर जमा बर्फ पिघलने लगी है तथा मानव को अनेक प्रकार के चर्म रोगों का सामना करना पड़ रहा है। ये रेप्रिफ़ेजरेटर और एअरडिशनर में से उपयोग में होने वाले प्रिफ़ियोन और क्लोरोफ़्लोरो कार्बन ;ऋद्ध गैस के कारण उत्पन्न हो रही समस्या है। आज हमारा वातावरण दूषित हो गया है। वाहनों तथा पकैक्ट्रीयों से निकलने वाले गैसों के कारण जल ;वायुद्ध प्रदूषित होती है। मीलों से निकलने वाले कचरों को नदियों में छोड़ा जाता है, जिससे जल प्रदूषण होता है। लोगों द्वारा कचरा पकैके जाने से भूमि ;जमीनद्ध प्रदूषण होता है।

ग्वेद तथा अथर्ववेद में भूमि के चारों ओर पैफ़ली हुई ओजोन परत का वर्णन है। ग्वेद में ओजोन परत के लिए महत् उल्ब शब्द का प्रयोग किया है। उसे स्थविर अर्थात् मोटी परत कहा है। अथर्ववेद में इस परत का रंग सुनहरी बताया है तथा पृथ्वी को गर्भस्थ शिशु मानकर ओजोन परत को उसके रक्षार्थ एक आवरण की संज्ञा दी है-

**महत् तदुल्बं स्थविरं तदासीद्, येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
तस्यो जायमानस्य उल्ब आसीद् हिरण्यः।**

वावापृथिवी संरक्षण-

भूमि प्रदूषण से अभिप्राय जमीन पर जहरीले, अवांछित और अनुपयोगी पदार्थों के भूमि में विसर्जित करने से है, क्योंकि इससे भूमि का निम्नीकरण होता है तथा मिट्टी की गुणवत्ता प्रभावित होती है। लोगों की भूमि के प्रति बढ़ती लापरवाही के कारण भूमि प्रदूषण तेजी से बढ़ रहा है।

कृषि में उर्वरकों, रसायनों तथा कीटनाशकों का अधिक प्रयोग करने तथा औद्योगिक ईकाइयों, तथा खादानों द्वारा निकले ठोस कचरे का विसर्जन करने से है। कागज तथा चीनी मिलों से निकलने वाले पदार्थों का निपटान, जो मिट्टी द्वारा अवशोषित नहीं हो पाते हैं। प्लास्टिक की थैलियों का अधिक उपयोग, जो जमीन में दबकर नहीं गलती। घरों, होटलों और औद्योगिक ईकाइयों द्वारा निकलने वाले अवशिष्ट पदार्थों का निपटान जिसमें प्लास्टिक, कपड़े, लकड़ी, धतु, काँच आदि शामिल है।

वेदों में वायु मण्डल की शु(ता के लिये वावापृथिवि अर्थात् सूर्यादि लोक, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी संरक्षण पर बल दिया है। सूर्य उफर्जा का स्रोत है। अन्तरिक्ष वृष्टि का कारण है तथा पृथ्वी उफर्जा और वृष्टि का प्रयोग करके अन्नादि उत्पन्न करके पृथ्वी पर जीवन को संचालित करती है। इनके प्रदूषण को रोकने के लिए वेदों में अनेक उपाय बताये हैं-वृक्षों को अधिक संख्या में लगाना, वृक्षों के काटने पर प्रतिबन्ध लगाना, वृक्षों की, सुरक्षा करना, यज्ञ द्वारा वायुमण्डल को शु(करना, सौर उफर्जा को उपयोग करना, ध्वनि तरंगों का उपयोग करना, प्रदूषण नाशक औषधी तथा वृक्ष लगाना, अग्नि तथा सोमीय तत्त्वों को सन्तुलित करना, जल तथा भूमि को प्रदूषण मुक्त रखना है।

² अथर्ववेद 4.25.1-7

³ अथर्ववेद 4.13.3

⁴ ग्वेद 6.37.3

⁵ ग्वेद 10.51.1

⁶ अथर्ववेद 4.2.8

ग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में द्यु ;भूद्ध को माता-पिता की संज्ञा दी गई है-माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। भूमिर्माता, भ्रान्तान्तरिक्षम्, द्यौर्नः पिता, पृथिवी माता, द्यौषितर⁷, द्यावापृथिवी.... पिता माता⁸ इसलिये हमें इनकी रक्षा करनी चाहिये ताकि ये संरक्षित रहे और पृथ्वी पर जीवन भली प्रकार चलता रहे।

जल संरक्षण-

जल प्रदूषण का अर्थ पानी में अवांछित तथा घातक तत्वों की उपस्थिति से पानी का दूषित हो जाना है जिससे कि वह पीने योग्य नहीं रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मानव मल का नदियों, नहरों आदि में विसर्जन से है। सफाई तथा सीवर का उचित प्रबन्ध न होना। विभिन्न औद्योगिक इकाइयों द्वारा अपने कचरे तथा गंदे पानी का नदियों, नहरों में विसर्जन से है। कृषि कार्यों में उपयोग होने वाले गहरीले रसायनों तथा खादों का पानी में घुलना है। नदियों में कूड़े-कचरे मानव-शवों और पारम्परिक प्रथाओं का पालन करते हुए उपयोग में आने वाले प्रत्येक घरेलू सामग्री का समीप के जल स्रोतों में विसर्जन से है। इससे मनुष्य, पशु तथा पक्षियों के स्वास्थ्य को खतरा उत्पन्न होता है। इससे टायफाइड, पीलिया, हैजा गैस्ट्रिक आदि बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

वेदों में जल को बहुत महत्वपूर्ण बताया है। जल जीवन, अमृत, भेषज, रोगनाशक तथा आयुर्वर्धक है। जल दूषित करना सबसे बड़ा पाप बताया है। जल में औषधियों के तत्व विद्यमान रहते हैं। वर्षा का जल सर्वश्रेष्ठ बताया है। यह मानव को जीवन शक्ति प्रदान करता है। जल में सोम आदि का रस मिलाकर सेवन करने से दीर्घायु होती है। अप्सु अन्तर्विश्वानि भेषजा। आपश्च विश्वभेषजीः⁹ अप्सवन्तरमृतम्, अप्सु भेषजम्¹⁰ आपः पृणीत भेषजम्¹¹

जल के विषय में तो यहाँ तक कहा है कि जल से सभी रोग, आनुवांशिक रोग तक नष्ट हो जाते हैं। जल को सर्वोत्तम वैद्य कहा है। यह सभी रोगों का नाशक बताया है। इसलिए हमें जल की प्रदूषण से रक्षा करनी चाहिये ताकि सम्पूर्ण मानव जाति को शुद्ध जल प्राप्त हो सके।

वृक्ष वनस्पति संरक्षण-

वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में वृक्ष वनस्पतियों को बहुत महत्वपूर्ण बताया है। अथर्ववेद में कहा है कि वृक्ष तथा वनस्पतियों में सभी देवता निवास करते हैं। ये मानव को जीव की शक्ति प्रदान करती हैं। इन औषधियों को प्रदूषण नाशक बताया है। इसलिये इन्हें विषदूषणी कहा गया है-

1. वीर्ये वैश्वदेवीः उग्राः फुरुषजीवनी¹²

2. उग्रा या विषदूषणीः..... ओषधीः¹³

वृक्ष संसार की रक्षा करते हैं और उसे प्राण वायु रूपी द्रव्य पिलाते हैं इसलिए इन्हें माता भी कहा है। वृक्ष को प्रदूषण का रक्षक बताया है। वे वायुमण्डल के दोषों का विनाश करते हैं। एक वृक्ष को दस पुत्रों के बराबर बताया है। वृक्षों को लगाने से ही वर्षा होती है। भूमि का कटाव नहीं होता तथा वायु शुद्ध होती है। इसलिये वृक्ष तथा वनस्पतियों की रक्षा करनी चाहिए।

यज्ञ, प्रदूषण का सर्वोत्तम नाशक-

वेदों में यज्ञ का बहुत महत्व है। यज्ञ के द्वारा ही वायुमण्डल का सन्तुलन बना रहता है। यज्ञ द्वारा पर्यावरण रक्षा, वायुमण्डल की शुद्धता, रोगों का नाश, शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होती है। ग्वेद, यजुर्वेद में प्राकृतिक यज्ञ का वर्णन है। इस तरह यह यज्ञ चक्र चलता रहता है।

⁷ अथर्ववेद 12.1.12

⁸ अथर्ववेद 6.120.2

⁹ यजुर्वेद 2.10.11

¹⁰ ग्वेद 5.43.2

¹¹ ग्वेद 1.23.20

¹² ग्वेद 1.23.19

¹³ ग्वेद 1.23.21

¹⁴ अथर्ववेद 8.7.4

**यत् पुरुषेण हविषा देवा यजमतन्वता
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरविः।¹⁵**

यह क्रिया अणु, परमाणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि तक चलती है। यही यज्ञ-क्रिया है। इसके द्वारा ही प्रत्येक अणु में नित्य परिवर्तन होता है तथा सृष्टितत्त्व का संचालन होता रहता है। यजुर्वेद में यज्ञ को सृष्टि चक्र का केन्द्र कहा है। **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।¹⁶** इससे सम्पूर्ण सृष्टि शुभ हो जाती है। यज्ञ शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति प्रदान करता है। इसलिये यज्ञ करना श्रेयस्कर है।

अग्नि प्रदूषण निवारक-

वेदों में अग्नि को पर्यावरण शुद्धि का स्रोत बताया है। अग्नि का गुण दहकना है। यह अशुद्धि, प्रदूषण तथा कीटाणुओं को नष्ट करती है। चाहें यह यज्ञ की अग्नि हो या घर की अग्नि, वन की अग्नि हो या समुद्री अग्नि, सभी प्रदूषण को नष्ट करती है। इसलिये वेदों में अग्नि का महत्त्व बताया है। प्रदूषणकारी तत्वों को वृत्र, रक्षस, अत्रिन्, असुर आदि कहा गया है।

1. अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद् विश्वं न्यत्रिणम्।¹⁷

2. अग्निर्वृत्राणि ज घनदा।¹⁸

3. अग्नि रक्षांसि सेधति।¹⁹

अग्नि को संसार को पवित्र करने वाला बताया है। यह पर्यावरण को शुद्ध करती है। इसलिये इसे पावक भी कहते हैं। इसे अनेक उपाधियाँ यथा-रक्षोनाशक, वृत्रहा, असुरहन्ता प्रदान की गई हैं।

सूर्य प्रदूषण नाशक-

वेदों में सौर उफर्जा को प्रदूषणनाशक बताया है। ग्वेद तथा अथर्ववेद का कहना है कि उदय होता हुआ सूर्य, दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रदूषणों को नष्ट करता है। प्रदूषण प फैलाने वाले कीटाणुओं को वेद में कृति, यातुधन तथा रक्षस कहा गया-**उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा। दृष्टान् च धन् अदृष्टान् च, सर्वान् च प्रमृणन् किमीन्।²⁰** यजुर्वेद कहता है कि सूर्य अपनी किरणों से वायुमण्डल के प्रदूषण को नष्ट करता है-**सविता पुनातु अछिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।²¹**

सूर्य की किरणों को बहुत पवित्र माना है। यह उदय होता हुआ सम्पूर्ण पृथ्वी पर शक्ति का संचार करता है। प्रत्येक दिन नवीन उफर्जा प्रदान करता है इसलिये सूर्य प्रदूषण निवारक है।

ध्वनि प्रदूषण निवारक शब्द शक्ति-

वेदों में शब्द शक्ति बहुत महत्वपूर्ण है। शब्द को सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त महान् शक्ति बताया है। शब्द के लिए कहा है कि जिस प्रकार ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है, उसी प्रकार शब्द भी सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है-**यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।²²**

ग्वेद का कहना है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही शब्द स्फोट से निर्मित है। शब्दशक्ति का सूक्ष्म रूप ही विद्युत तरंगें हैं। ये मन से भी सूक्ष्म हैं। **अहमेववात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा।²³ वाग् वै मनसो ह्ययीयसी।²⁴** शब्द शक्ति शुभ तथा अशुभ दोनों होती है। शोर हल्ला आदि अशुभ ध्वनियाँ होती हैं तथा जिस ध्वनि का सदुपयोग हो वह शुभ ध्वनि होती है।

पर्वत प्रदूषण नाशक-

¹⁵ अथर्ववेद 8.7.10

¹⁶ ग्वेद 10.10.6, यजु. 31.14

¹⁷ यजुर्वेद 23.62

¹⁸ ग्वेद 6.16.28 यजु. 17.16

¹⁹ यजुर्वेद 33.9

²⁰ ग्वेद 7.15.10

²¹ यजुर्वेद 4.4/10.6

²² ग्वेद 10.114.8

²³ ग्वेद 10.125.8

²⁴ शत. ब्रा. 1.4.4.7

वेदों में पर्वतों का बहुत महत्व बताया है। पर्वत हमें खनिज प्रदान करते हैं। पर्वतों से नदियाँ निकल कर देश को धन-धान्य से परिपूर्ण करती हैं। हिमालय जैसे पर्वत देश की रक्षा करते हैं। पर्वत, वन आदि वातावरण का शोधन करते हैं। पृथ्वी को सन्तुलित रखते हैं। शु(वायु प्रदान करते हैं। ग्वेद कहता है कि पर्वत शु(वायु देकर मृत्यु से रक्षा करते हैं तथा पर्वतों से रक्षा की प्रार्थना की गई है। **अन्तर्मृत्युं दधां पर्वतैः²⁵ अवन्तु मा पर्वतासो ध्वासः²⁶**

पर्वत संसार के पालन तथा पोषक हैं। पर्वतों पर देवदारु, चीड़ आदि पेड़ पर्यावरण शोधक, रोगनाशक तथा स्वास्थ्यवर्धक होते हैं इसलिए पर्वतों की सदैव रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार अन्त में कहा जा सकता है कि व्यवसायिक इकाइयाँ ऐसा कोई भी कदम न उठाये जिससे पर्यावरण को और अधिक हानि हो। इसके लिये आवश्यक है कि व्यवसाय सरकार द्वारा लागू किये गये प्रदूषण सम्बन्धी सभी नियमों का पालन करें तथा मनुष्यों द्वारा किये जा रहे पर्यावरण प्रदूषण के नियंत्रण के लिये व्यवसायिक इकाइयों को आगे आना चाहिए। इसके साथ ही साथ लोगों को पर्यावरण प्रदूषण के कारण तथा परिणामों के सम्बन्ध में जागरूक बनाये जिससे वे पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने के बजाय ऐच्छिक रूप से पर्यावरण के रक्षा कर सकें।

²⁵ ग्वेद 10.18.4

²⁶ ग्वेद 6.520.4

संस्कृत नाट्यकला की लोकयात्रा और लोकधर्मिता

अनुला मोर्य

प्राचार्या, कालिन्दी महाविद्यालय

नाट्य उत्पत्ति-

कलाओं में नाट्यकला का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत में नाट्यकला की अत्यन्त ख्याति और व्याप्ति थी। हमारे देश में नाट्यकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आदिकाल से ही नाटकों वेफ खेलने की प्रणाली चली आई है। इसलिए नाट्यकला की प्राचीनता एवं लोकप्रियता वेफ अनेक प्रमाण मिलते हैं। नाट्यशास्त्र वेफ प्रारम्भ में एक आख्यान मिलता है- एक बार भरत मुनि आगम कर रहे थे। उसी समय आत्रेय आदि ऋषियों ने आकर पूछा आपने जो नाट्यवेद की रचना की है उसका प्रयोजन क्या है और वह किसवेफ लिए रचा गया है? तब भरतमुनि ने कहा कि त्रेतायुग में अव्यवस्था पैफलने वेफ कारण पापाचार, काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ आदि बढ़ जाने से लोगों का जीवन दुःखमय हो गया, तब देवतागण इन्द्र को प्रतिनिधि बनाकर ब्रह्मा जी वेफ पास गये। उन्होंने कहा हे पितामह! हम ऐसा कोई खेल खेलना चाहते हैं जिसको देखा भी जा सवेफ और सुना भी जा सवेफ। देवताओं ने आग्रह किया कि चारों वेदों वेफ अतिरिक्त एक ऐसा वेद बनाइये जिसमें सभी वर्गों का स्थान हो। इस आग्रह को स्वीकार कर पितामह ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य ;सम्वादद्ध सामवेद से गीत ;संगीतद्ध यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का संग्रह कर नाट्यवेद की रचना की। इस प्रकार नाट्यवेद चारों वेदों का उपजीव्य है।

जयाह्व पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥४

नाट्यशास्त्र का मूलार्थ-

सर्वप्रथम हमें वैदिक साहित्य में नाटकों का सूत्र रूप उपलब्ध होता है। ऋग्वेद वेफ यम-यमी सम्वाद ;10.10६, फुरवा और उर्वशी सम्वाद ;10.१६६, इन्द्र-मरुत सम्वाद ;1.165, नेम-भार्गव प्रश्नोत्तर ;8.100, विश्वामित्र-नदी सम्वाद ;3.33, सरमा-पणि सम्वाद ;10.108 आदि वेफ वार्तालाप अनेक स्थलों पर मिलते हैं। वार्तालाप वेफ अतिरिक्त गान, नृत्य आदि वेफ भी पर्याप्त प्रमाण वेदों में मिलते हैं। संस्कृत साहित्य वेफ अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है और इसे ही आगामी नाट्य-साहित्य वेफ उदय और विकास का मूल प्रोत माना है। कात्यायन श्रौतसूत्र का एक उदाहरण मिलता है। जो कि एक लघु अभिनय का उदाहरण है एवं जिसमें नाटकीयता वेफ गुण स्पष्ट हैं। यजमान सोमवित्रेफता और अध्वर्यु का सम्वाद द्रष्टव्य है।

'सोम बेचोगे?'

'बिबेफगा'

'तो लिया जायेगा।'

'ले लो'

'गौ की एक कला से उसे लूँगा'

'सोम इससे अधिक मूल्य वेफ योग्य है।'

'गौ भी कम महिमा वाली नहीं है। इसमें मट्ठा, दूध, घी सब है।'

'नहीं'

'अच्छा आठवाँ भाग ले लो'

'नहीं, सोम अधिक मूल्यवान है।'

'तो चौथाई ले लो।'

'नहीं और मूल्य चाहिए।'

'अच्छा आधी ले लो'

'अधिक मूल्य चाहिए।'

'अच्छा पूरी गौ ले लो भाई।'

तब सोम बिक गये। परन्तु और क्या दोगे? सोम का मूल्य समझकर और वुफछ दो। स्वर्ण लो, कपड़ा लो, गाय वेफ जोड़े, बछड़े वाली गौ, जो चाहो सब दिया जायेगा।

जब सोम वित्रेफता अपना सोम बेचने को प्रस्तुत हो जाता है तब उस सोम वित्रेफता को छकाकर बकरी दे दी जाती है। तदुपरांत वित्रेफता यजमान वेफ कपड़े पर सोम डाल देता है। तत्पश्चात् सोम को गाड़ी में बिटाकर परिक्रमा कराई जाती है एवं इन्द्र का आवाहन किया जाता है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने इसे और इस प्रकार वेफ अन्य कथोपकथनों को भारतीय नाट्य साहित्य वेफ आदि काल की भूमिका अथवा प्रारम्भिक स्वरूप स्वीकार किया है।

शुक्ल यजुर्वेद वेफ 30वें अध्याय में शैलूष जाति वेफ उन लोगों का चर्चा भी मिलता है जो व्यावसायिक दृष्टि से अभिनय करते थे। एक मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है- पत्न्य वेफ लिए सूत को, गीत वेफ लिए शैलूष ;नटद्ध को, धर्म व्यवस्था वेफ लिए सभा चतुर को, हास्य विनोद वेफ लिए विनोद शीलों को, शृंगार सम्बन्धी रचना वेफ लिए कलाकारों को, चातुर्य पूर्ण कार्य वेफ लिए रथकारों को नियुक्त करना चाहिए। इससे पता चलता है कि उस समय नाटकों का कोई न कोई रूप अवश्य था।

नाट्यशास्त्र वेफ विकासक्रम में उपनिषदों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। बृहदारण्यकोपनिषद् में विदुषी गार्गी, महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी वेफ बीच वार्ता वेफ अनेक उदाहरण मिलते हैं। कठोपनिषद् में यम-नचिवेफता वेफ बीच एक नाटकीय सम्वाद मिलता है। वेफनोपनिषद् का उमा-हैमवती आख्यान, छान्दोग्योपनिषद् का श्वेतवेफतु-अरुणि आख्यान आदि अनेक उदाहरण उपनिषदों में मिलते हैं। ये सारे उदाहरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और महाकाव्यों तथा नाटकों वेफ स्रोत हैं।

महर्षि पाणिनि ने शिलालिन् और कृशाश्व सम्बन्धी दो नाटकीय रूपों अथवा परम्पराओं का वर्णन किया है।⁴ जो सम्भवतः अपने क्षेत्र वेफ आचार्य, अभिनेता अथवा कलाकार थे।

नाट्य-उत्कर्ष-

वाल्मीकि रामायण वेफ अयोध्याकाण्ड में शैलूष शब्द का प्रयोग हुआ है।⁵ अयोध्याकाण्ड वेफ 69वें सर्ग में वर्णन आता है कि राम वेफ वनवास एवं दशरथ की मृत्यु वेफ समय भरत अपने ननिहाल में हैं। वह उदास, चिन्तित एवं उद्विग्न हैं। उनवेफ मित्र उनको प्रसन्न करने वेफ लिए गीत, नृत्य, नाटकों का आयोजन करते हैं।⁶ बालकाण्ड वेफ पाँचवें सर्ग वेफ वर्णन वेफ आधार पर पता चलता है कि अयोध्या में महिलाओं एवं अभिनेताओं वेफ अपने-अपने नाटक संघ और नाटक घर थे।⁷ बालकाण्ड वेफ तेरहवें सर्ग में दशरथ द्वारा पुत्र प्राप्ति वेफ लिए अश्वमेधयज्ञ की तैयारी वेफ प्रसंग में तथा राम वेफ राज्याभिषेक वेफ समय में नट-नर्तकी आदियों वेफ अभिनय एवं नृत्य का वर्णन मिलता है।⁸ अयोध्या वेफ नाटक करने वाली मण्डलियाँ विद्यमान थीं और वे अत्यन्त लोकप्रिय थीं वेफवल जनसमाज में ही नहीं, राजसमाज में भी उनका बड़ा आदर था। वैसे भी वाल्मीकि रामायण की लोकप्रियता सदा से रही है। इसीलिए रामायण में वर्णित नाट्य संस्थाओं अथवा कलाकारों और अभिनयों से जनता का प्रभावित होना स्वाभाविक है। बुफशीलव शब्द का प्रयोग रामायण में मिलता है, जिसका अर्थ भी अभिनेता है।

महाभारत में सूत्रधर ;1/51/15द्ध नाटक ;2/12/36द्ध नट-नर्तक-गायक ;2/15/13द्ध आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। महाभारत वेफ विराट पर्व में एक विशाल रंगमंच का वर्णन मिलता है। पाण्डव जब अज्ञातवास में थे तब अर्जुन ने बृहन्नला बनकर राजबुफमारी उत्तरा को गीत, नृत्य एवं वाद्य की शिक्षा दी थी। अर्जुन को इन कलाओं की शिक्षा गन्धर्व चित्रसेन ने दी थी। अभिमन्यु वेफ विवाह वेफ अवसर पर एवं प्रद्युम्न वेफ विवाह वेफ अवसर पर नाटक मण्डली द्वारा नाटकों वेफ अभिनीत होने की चर्चा आता है। उद्योग पर्व में जब श्रीकृष्ण युधिष्ठिर वेफ दूत बनकर दुर्योधन वेफ पास गये तो दुर्योधन ने उनवेफ स्वागत वेफ लिए स्थान-स्थान पर मनोरंजन वेफ कार्यक्रम कराये। वन पर्व में भी युधिष्ठिर एवं धर्म वेफ सम्वाद में युधिष्ठिर ने कहा था कि वह सुयश वेफ लिए कलाकारों अभिनेताओं और नर्तकों को आर्थिक सहायता दिया करते थे।

महाभारत वेफ प्रथम पात्र श्रीकृष्ण नाट्य-संगीत आदि कलाओं वेफ अधिष्ठाता माने जाते हैं। श्रीकृष्ण वेफ छालिक्य नृत्य और वेणु वादन तो जगप्रसिद्ध हैं। भागवत पुराण वेफ प्रथम स्कन्द में श्रीकृष्ण वेफ विजय वेफ प्रसंग में कलाकारों का उल्लेख मिलता है।⁹ ब्रह्मपुराण ;184/20द्ध, एवं विष्णु पुराण ;5/13द्ध तथा भागवत पुराण वेफ रास पञ्चाध्यायी में रास कीड़ा का सुव्यवस्थित एवं सर्वाकृष्ट रूप देखने को मिलता है। मार्कण्डेय पुराण वेफ बीसवें अध्याय में नाटकों वेफ अभिनीत होने वेफ प्रमाण मिलते हैं।¹⁰

महावीर स्वामी वेफ सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है कि वे एक बार अमल कप्या नगरी पहुँचे। वहाँ अम्बसाल वन में एक अशोक वृक्ष की छाया में बैठे थे। उसी समय आकाश मार्ग से श्री सूर्याभदेव धृती पर उतरे। उन्होंने महावीर स्वामी का अभिनन्दन किया। अभिनन्दन में बाजे बजे, संगीत का कार्यक्रम हुआ और सूर्याभदेव ने एक नाटक का मञ्चन किया। उनकी कला से महावीर स्वामी अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस कथा से पता चलता है कि उस समय नाटकों का अभिनय होता था।

बौद्ध काल में नाटक अच्छी तरह विकसित हो चुके थे। यद्यपि बौद्ध भिक्षु अपने नियम और आचार में कटुद्धर थे परन्तु वे नाटकों एवं अभिनय वेफ विरोधी नहीं थे। इसलिए नाट्यसहित को बौद्ध साहित्य में काफली स्थान मिला। 'ललित विस्तर' में यह वर्णन आया है कि जब महात्मा बुद्ध राजगृह में थे उस समय मौद्गल्यायन तथा उपतिस्व ने अपने नाटकीय कौशल का परिचय अपने नाटकों में दिया। बिम्बसार ने अपने दो नाग सम्राट अतिथियों वेफ मनोरंजन वेफ लिए नाटक कराया था। एक कथा मिलती है कि स्वयं गौतम बुद्ध की उपस्थिति में राजगृह में एक नाटक खेला गया था। उस समय बुफवल्य नामक एक आकर्षक अभिनेत्री थी। उसने बुफछ भिक्षुओं को धर्म से विस्त कर दिया। इसवेफ फफलस्वरूप वह संघ वेफ ब्रफोध का भाजन बनी। बाद में उसने प्रायश्चित्त किया, महात्मा बुद्ध ने उसे क्षमा कर दिया और वह भिक्षुणी बन गई। दूसरी व तीसरी शती ईसा पूर्व की रचनाओं, जातक कथाओं में भी नट एवं नाटक वेफ अगणित वर्णन मिलते हैं।

शिलालेखों में भी नाट्य सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती हैं। गिरनार पहाड़ी वेफ प्रथम शिलालेख में समाज शब्द का प्रयोग हुआ है।¹¹ जिसका अर्थ विद्वानों ने रंग, प्रेक्षागृह आदि किया है। ऐसा समाज को सम्राट अशोक साधुमत समझते थे। ससगुजा जनपद वेफ 'सीता वेंगा' गुफफा में एक पाषाण रंगशाला मिली है। यह नाट्यशास्त्र वेफ निर्देशों वेफ अनुसार है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि द्वितीय शताब्दी ई.पू. में ही संस्कृत रूपक विकास वेफ अन्तिम सोपान पर पहुँच गए थे।

बौ (दार्शनिक महाकवि अश्वघोष अच्छे संगीतज्ञ और अभिनेता थे। अश्वघोष कृत 'सारिपुत्र प्रकरण' मध्य एशिया में अत्यन्त लोकप्रिय नाटक था, जिसमें मौद्गलायन और सारिपुत्र को बु (द्वारा) प्रवृत्ता दिये जाने की कथा है।

कौटिल्य वेफ महान् ग्रन्थ अर्थशास्त्र में भी उस समय वेफ नटों, नर्तकों, गायकों, वादकों, वृक्षशीलकों, शौभिकों, चारणों आदि की स्थिति का प्रमाण मिलता है। उस समय की राज्य व्यवस्था वेफ अनुसार संगीत शालाओं एवं नाट्यशालाओं की व्यवस्था थी एवं उनका संचालन सुयोग्य आचार्य करते थे। यहाँ तक की उस समय की नाट्य मण्डलियाँ अभिनय प्रस्तुत करने पर राजकर भी नियमित रूप से देती थी।¹²

पतञ्जलि महाभाष्य में उल्लिखित दो नाटक वंफसवध और बालिवध इस बात का प्रमाण है कि उस समय नाटक का मञ्चन होता था।¹³ वात्स्यायन वेफ कामसूत्र वेफ नागरिकवृत्त प्रकरण में लिखा हुआ है कि सरस्वती भवन में पक्ष या महीने वेफ प्रसि (पर्वों) पर राजा की ओर से नियुक्त नटों द्वारा अभिनय होता था। इस उत्सव को ही समाज कहा जाता था।¹⁴

भारतीय दर्शनों में भी रंग, प्रेक्षक, नटी जैसे शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। सांख्य कारिका में प्रकृति को नटी की उपमा दी गई है एवं 57वें श्लोक में कहा गया है- जिस प्रकार नर्तकी रंगमंच पर अपना नृत्य दिखाकर रंगमंच से निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति भी फुष वेफ समझा अपने को दिखाकर निवृत्त हो जाती है। सांख्यकारिका वेफ 65वें श्लोक में तत्त्वज्ञानी को रंगमंच वेफ दर्शक से उपमा दी गई है।

लोकशास्त्र-

इस प्रकार हमारे समस्त प्राचीन साहित्य में किसी न किसी रूप में नाटकों एवं रंगमंच का वर्णन मिलता है। भरतमुनि ने जब नाट्यशास्त्र रचा उससे पहले हमारे देश में रंगमंच की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई थी। नाट्य साहित्य वेफ लिखने वालों एवं अभिनेताओं को सही मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। इसलिए भरत ने नाट्यशास्त्र की रचना की। यह सर्वमान्य ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि भरत को 'मुनि' की उपाधि दे दी गई और नाट्यशास्त्र को पञ्चम वेद कहा गया। इस ग्रन्थ वेफ वर्णित नियम उपनियम, रंगमंच की व्यवस्था सम्बन्धी जो सुनियोजित एवं लिखित आदेश प्राप्त हुआ उससे नाटक लिखने तथा खेलने का रास्ता खुल गया। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि नाट्यशास्त्र एवं भरतमुनि से पहले नाट्यशास्त्र वेफ ग्रन्थ या आचार्य नहीं थे। इतिहास में भारत से पहले भी कई आचार्यों वेफ नाम उपलब्ध होते हैं जिनमें शिलालि, कृशाश्व, धूर्तिल, शाण्डिल्य, वात्स्य, कोहल सदाशिव, पद्मभू, द्रोहिणी, व्यास, आज्ञनेय आदि वेफ नाम प्रसि (हैं)। इसवेफ अतिरिक्त आचार्य भरत वेफ पश्चात् भी नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों वेफ अनेक लेखकों का नामोल्लेख मिलता है। आचार्य कोहल, तुम्बरू, दत्तिल, मर्तग, कात्यायन, गहल, उद्भट, लोल्लट, शंभुफक, भट्टनायक, कीर्तिध, मातृगुप्त, सुबद्ध, वादरायण, नखवुफद्ध, शातकर्णी आदि विद्वान् भारत वेफ पश्चात् नाट्य परम्परा वेफ संचालक रहे हैं।

नाट्यशास्त्र की रचना वेफ बाद अश्वघोष, भास, महाकवि कालिदास, शुद्रक, विशाखदत्त, श्रीहर्ष, महेन्द्र विक्रम वर्मन्, भवभूति, भट्टनागरायण, यशोवर्मन्, मुरारि, भीमट, राजेश्वर, कृष्ण मिश्र, जयदेव आदि महाकवियों ने प्रत्येक युग में संस्कृत नाट्य परम्परा को जीवित रखा। अनुमान है कि यदि संस्कृत वेफ छोटे-बड़े सभी नाटकों को एकत्र किया जाय तो उनकी संख्या लगभग एक हजार से अधिक होगी। हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्य परम्परा लगभग 2000 वर्षों से अबाध रूप से चल रही है। अभी तक संस्कृत नाटकों का सही मूल्यांकन एवं अध्ययन पूर्णरूपेण नहीं हो पाया है। पिछर भी जितने नाटकों का अध्ययन हुआ है उसी वेफ आधार पर संस्कृत नाट्य साहित्य को संसार का सर्वश्रेष्ठ नाट्य साहित्य कहा जा सकता है।

लोकधर्मिता-

संस्कृत नाट्य और रंगमंच का मूलधर भारतीय जीवन-दर्शन है। यह पूछना कि भारतीय रंग अवधारणा क्या थी, इस प्रश्न को पूछने वेफ समान है कि भारतीय जीवन दर्शन क्या था? भारतीय नाट्य और रंगमंच का उद्भव धर्मिक परिस्थितियों में अथवा धर्मिक कृत्य वेफ रूप में हुआ था। इसलिए उसकी परम्पराएँ अनुष्ठागत हैं। नाट्यकर्म एक चाक्षुष यज्ञ वेफ रूप में लिया जाता था। किन्तु बात इससे भी और गहरी है क्योंकि नाट्य की सारी प्रवृत्ति मानव-मन में बहुत गहराई से बैठी हुई है। क्रीडा मानव की एक सनातन प्रवृत्ति है। क्योंकि संस्कृत नाटक और रंगमंच लौकिक जीवन, त्रिलोक वेफ भावों वेफ अनुकीर्तन और जन-जन की अवस्थानुकृति को अपना लक्ष्य बनाता है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि नाट्य में सातद्वीपों वाले लोक का अनुकरण ही नियम है। नाटक को देवताओं, असुरों, गजाओं, पारिवारिकों तथा महर्षियों वेफ चरित्र का प्रदर्शन समझना चाहिए। लोक वेफ सुख-दुःख से युक्त स्वभाव वेफ ही विभिन्न अंगों आदि वेफ द्वारा अभिनय किए जाने पर नाटक कहा जाता है। इस कारण महामना भरत ने कहा है- वेद विद्या तथा इतिहास की कथाओं की अभिनय द्वारा परिकल्पना करने वाला नाटक लोक का मनोरंजन करने वाला होगा।¹⁵

भारतीय रंगमंच पश्चिम की तरह थकान उतारने का साधन कभी नहीं रहा है। उसमें मंगल और मांगल्य की भावना मुख्य थी। नाट्यशास्त्र में इसलिए भरत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इस नाट्य वेद वेफ अन्तर्गत कहीं धर्म है, कही अर्थ, कहीं शान्ति अथवा श्रम, कहीं हँसी, कहीं यु, कहीं मल और कहीं कहीं वध का अनुकरण है। इसमें कर्तव्य का पालन करने वाले वेफ लिए कर्तव्य की शिक्षा है, काम की इच्छा करने वालों वेफ लिए काम है, दुर्विर्तों वेफ लिए निग्रह करने और विनीत जनों वेफ लिए शम की क्रिया भी इसमें विद्यमान है। यह नाट्यवेद कायों में साहस उत्पन्न करने वाला अर्थात् वीरों में उत्साह भरने वाला अज्ञानियों को ज्ञान विशेष का बोध कराने वाला तथा ज्ञानियों को विद्वता प्रदान करने वाला है। यह ऐश्वर्यवानों वेफ लिए विलास है, दुष्टियों को साहस देने वाला, अर्थोपार्जन की इच्छा करने वाले वेफ लिए अर्थप्रद है और उद्विग्न चित्त वाले वेफ लिए धर्म प्रदान करने वाला है।... यह नाट्य-रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओं वेफ अभिनय द्वारा लोक में सबको उपदेश देने वाला है।... यह नाट्यधर्म, यश, आयु को बढ़ाने वाला तथा बुद्धि को उदीप्त करने वाला है।¹⁶

स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि नाट्य का यह दायित्व उसवेफ सामाजिक स्वरूप की व्याख्या करता है और उन लक्ष्यों को उभारता है जो भारतीय संस्कृति वेफ प्राणतत्त्व हैं। इसमें आधिभौतिक और आधत्मिक तत्त्व सर्वोपरि हैं। इन्हीं कारणों से भारतीय रंगमंच और नाट्य का मूल स्वर संघर्ष

का न होकर प्राप्ति का है। नाटक की कार्यविस्थाएँ आरम्भ और प्रयत्न से शुरू होकर प्राप्त्याशा, नियताप्ति से होते हुए पफलागम की ओर अग्रसर होती हैं। यह ठीक है कि भारतीय नाट्य और संगमंच दुःखों और जीवन वेफ संघर्षों को नाकर कर नहीं चलता, पर अन्ततोगत्वा वह जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही मानता है। इस दृष्टि से भारतीय नाट्य पश्चिम से बिल्कुल भिन्न टहरता है। पश्चिम का नाटक व्यक्ति की निजी जिन्दगी और उसकी दुःखान्तता से बुरी तरह ग्रस्त है और वह भाग्य की विडम्बनाओं को चित्रित करने में ही संलग्न दिखाई देता है। पश्चिम में संघर्ष का अर्थ है त्रासदी, भाग्यविपर्यय और पराजय। हमारे यहाँ संघर्ष शक्ति, प्राप्ति और विजय का परिचायक है। संस्कृत नाटक में भाग्य नहीं, कर्म का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। जितनी विद्याएँ, जितने शास्त्र, ज्ञान विज्ञान, कला कौशल है सभी का समावेश नाट्यवेद में है। अतः भरतमुनि ने इसकी लोकधर्मता को देखते हुए लिखा है- विनोदकरणं.....विनोदजननं लोवेफ नाट्यमेतद् भविष्यति॥

पाद टिप्पणी

- 1 कात्यायन श्रौतसूत्र, 1/8/25
- 2 नृनाय सूत गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्टायै भीमलं नर्माय रेभं हमाय
कास्मिन्नाय स्त्रीषण् प्रमदे वुफमारी पुत्रं मैथयै स्थकारं
६ यात् तक्षाणम्। यजुर्वेद 30/6
- 3 बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8
- 4 ;रुद्ध पागश यशिलाभिभ्याभिक्षुनटसूत्रयोः। अष्टाध्यायी, 4/3/110
;रुद्ध कर्मन्दकृशाश्वदिनि। वही, 4/3/111
- 5 स्वयं तु भार्या कौमारी चिस्मधूयितां सतीम्। शैलूष इव मां राम परेभ्य दातुमिच्छति॥ रामायण, 2/30/8
- 6 वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरो नाटकायपरे स्माहर्हस्यानि विविधनि च। वही, 2/67/4
- 7 वृद्धाटकसंघेश्च सयुक्ता सर्वतः पुरीम्। वही, 1/5/12
- 8 क. कर्मान्तिकाशिल्पकागन्धर्वकीन्वतकानपि। गणकाशिल्पिनश्चैव तथैव नट नर्तकात्। वही, 1/18
ख. नट नर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्। यतः कर्ण सुखावाचः सुशाव जनता ततः॥वही, 2/67/15
- 9 नटनर्तकगान्धर्वाः सूतमागध बन्दिनः। गायन्ति चोत्तमः श्लोक चरितान्यद्भुतानि च। भागवतपुराण, 1/11/21
- 10 कदाचित् काव्यसलाप गीत नाटकसम्भवैः। रेमे नरेन्द्र पुत्रोऽसौ नरेन्द्र तनयै सह॥
- 11 न च समाजो कटव्यो बहुकम् हि दोषम्। समाजमहि पशति देवानां प्रियो
प्रियदर्शि राजा अस्ति पितु एकचसमाजा साधुमता देवानां प्रियस। गिरनार शिलालेख
- 12 कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.2.11.3, 13.17.1, 4-7.4.2
- 13 महाभाष्य, 3.1.26
- 14 पक्षस्य मासस्य वा प्रजातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तायां नित्यसमाजः। कामसूत्र, 1/4/27
- 15 नाट्यशास्त्र, 1/116-119
- 16 वही, 1/106-115

वर्तमान समय मे विवाह संस्कार का बदलता स्वरूप

मञ्जुलता

संस्कृत विभाग, कालिन्दी महाविद्यालय

शोधसार - विवाह वि उपसर्ग वह धातु से घ प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है- विशेष रूप से (उत्तरदायित्व का) वहन करना। विवाह संस्कार में पति पत्नी के मध्य में शारीरिक संबंध से अधिक आत्मिक संबंध होता है, जिसे अत्यन्त पवित्र माना गया है। मनुस्मृति के टीकाकर मेघातिथि ३।२० के अनुसार विवाह एक निश्चित पद्धति से किया जाने वाला धार्मिक संस्कार है। वैदिक युग में यज्ञ प्रमुख धार्मिक कृत्य था जो पत्नी बिना संभव नहीं था अतः विवाह आवश्यक था। हिन्दू धर्म में सद्गृहस्थ की, परिवार निर्माण की जिम्मेदारी निभाने के योग्य शारीरिक, मानसिक परिपक्वता से पूर्ण युवक युवती का विवाह करवाया जाता है। आधुनिक परिवेश में विवाह का स्वरूप वासना प्रधानता को धारण कर चुका है। वर्तमान समय में औद्योगिक एवं वैज्ञानिक परिवर्तनों से तथा पश्चिम देशों में तलाकों की बढ़ती हुई भयावह संख्या के आधार पर विवाह संस्था के लोप की संभावनायें बढ़ रही हैं। बदलते परिवेश के कारण विवाह के परम्परागत स्वरूपों में परिवर्तन आ रहे हैं। विवाह को धार्मिक बन्धन के स्थान पर कानूनी बन्धन मानने की प्रवृत्ति बढ़ति जा रही है। अपने शोध पत्र में मैं यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि वर्तमान समय में किस प्रकार से विवाह विच्छेद को समाप्त कर प्राचीन विवाह संस्कार को स्थापित किया जा सकता है।

विवाह वि उपसर्ग वह धातु से घ प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है- विशेष रूप से (उत्तरदायित्व का) वहन करना। विवाह संस्कार में पति पत्नी के मध्य में शारीरिक संबंध से अधिक आत्मिक संबंध होता है, जिसे अत्यन्त पवित्र माना गया है। मनुस्मृति के टीकाकर मेघातिथि ३।२० के अनुसार विवाह एक निश्चित पद्धति से किया जाने वाला धार्मिक संस्कार है। वैदिक युग में यज्ञ प्रमुख धार्मिक कृत्य था जो पत्नी बिना संभव नहीं था अतः विवाह आवश्यक था। श्री राम का अश्वमेध यज्ञ सीता के बिना असंभव था। यज्ञ की पूर्णता के लिये राम ने सीता की सोने की प्रतिमा बनवाई थी। विवाह के द्वारा सृष्टि के विकास में योगदान दिया जाता है। विवाह दो व्यक्तियों के धार्मिक तथा कानूनी रूप से साथ रहने के लिये प्रदान की जाने वाली सामाजिक मान्यता है या समाज का निर्माण करने वाली सबसे छोटी इकाई- परिवार का मूल है। हिन्दू धर्म में सद्गृहस्थ की, परिवार निर्माण की जिम्मेदारी निभाने के योग्य शारीरिक, मानसिक परिपक्वता से पूर्ण युवक युवती का विवाह करवाया जाता है। विवाह के समय सप्तपदी की जाती है जिसमें प्रथम कदम अन्नवृद्धि के लिये, द्वितीय कदम शारीरिक व मानसिक बलवृद्धि के लिये, तृतीय कदम वृद्धि के लिये, चतुर्थ सुख वृद्धि के लिये, पञ्चम परिवार पालन के लिये षष्ठ ऋतुचर्या तथा सप्तम पद मित्रता को स्थिर रखने एवं बढ़ाने के लिये है।

आधुनिक परिवेश में विवाह का स्वरूप वासना प्रधानता को धारण कर चुका है। रङ्ग, रूप, वेष विन्यास ने पति पत्नी के चुनाव में प्राथमिकता ग्रहण कर ली है यदि यही भावना जनजीवन में व्याप्त रही तो वह समय दूर नहीं जब दाम्पत्य जीवन में शारीरिक प्रधानता मुख्य रूप से विद्यमान होकर एक प्रकार के वैध व्यभिचार का रूप धारण कर लेगा। पाश्चात्य देशों के समान शारीरिक आकर्षण प्रमुख होने पर विवाह संबंध जल्द ही टूटने लगे। अभी पत्नी के चुनाव में शारीरिक आकर्षण को ध्यान रखकर उसके चुनाव का चलन है वह समय दूर नहीं जब पति के चुनाव में पत्नी भी शारीरिक मानदण्ड को आधार मानकर उन्हें नापसंद करेगी और उन्हें दाम्पत्य सुख से वञ्चित रहना पड़ेगा। पूर्व काल में पति पत्नी एक दूसरे के प्रति शारीरिक आकर्षण से नहीं अपितु उसके सद्गुणों, सहिष्णुता, कर्तव्य पालन, सद्भावनाओं से बंधे होते थे इसीलिये संबंध दूर तक चलते थे। विवाह का आधार शारीरिक सौन्दर्य नहीं अपितु आत्मा का सौन्दर्य होना चाहिये। साथी में जो भी कमी है उसे प्रेम, आत्मीयता, विश्वास, सहयोग एवं सहिष्णुता से सुधारना चाहिये यदि ऐसा संभव न हो तो बिना दाम्पत्य जीवन में असन्तोष लाये उसे सहन कर संबंध को जीवन पर्यन्त निभाना चाहिये जो आज के युग में एक दम असंभव है। पति पत्नी को सुखमय विवाहित जीवन जीने के लिये परस्पर आत्मसमर्पण एवं विश्वास रखना आवश्यक है। जीवन साथी में जो गुण पति पत्नी चाहते हैं वह विवाह से पूर्व ही परख लेने चाहिये, विवाह पश्चात् अपने जीवन साथी को उसके गुण तथा कमियों के साथ सच्चे मन से स्वीकार करना चाहिये इसीलिये विवाह संस्कार आयोजित किया जाता है। समाज के संभ्रान्त व्यक्तियों की, गुरुजनों की कुटुम्बी संबंधियों की तथा देवताओं की उपस्थिति इस समय इसीलिये आवश्यक मानी गयी है कि यदि दोनों में से कोई भी इस संबंध की अवहेलना करे, तो वे उसे समझासकें या प्रताड़ित कर सकें। विवाह संस्कार के अन्तर्गत दोनों पृथक् व्यक्तियों की सत्ता समाप्त कर एकीकरण की भावना को विकसित करें। कोई भी किसी पर हुकुमत न जमाए और न ही एक दूसरे को अपने अधीन करके अपने लाभ या अहङ्कार की पूर्ति करे, अपितु परस्पर प्रेम एवं मैत्री पूर्ण संबंध रखें अपनी स्वयं की इच्छा को गोंड रखकर जीवन साथी की आवश्यकता को मुख्य मानकर सेवा एवं समर्पण का भाव रखें, उदारता का भाव रखें तभी वह जीवन रूपी रथ को ठीक चला पाये।

वर्तमान समय में औद्योगिक एवं वैज्ञानिक परिवर्तनों से तथा पश्चिम देशों में तलाकों की बढ़ती हुई भयावह संख्या के आधार पर विवाह संस्थाओं के लोप की संभावनाये बढ़ रही हैं। बदलते परिवेश के कारण विवाह के परम्परागत स्वरूपों में परिवर्तन आ रहे हैं। विवाह को धार्मिक बन्धन के स्थान पर कानूनी बन्धन मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। शिक्षा के प्रसार से स्त्रियां आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बन रही हैं। धर्म के प्रति शिथिलता, गर्भनिरोध साधनों में वृद्धि इत्यादि ने विवाह सम्बन्धी पौराणिक मान्यता को धक्का पहुंचाया है परन्तु यह सब कारण होते हुए भी विवाह प्रथा बने रहने के दो प्रयोजन हैं -- प्रथम वंश वृद्धि है, द्वितीय संतान का पालन है, तृतीय सच्चा दाम्पत्य प्रेम तथा सुख प्राप्ति है जो विवाह के द्वारा ही संभव है अन्य किसी भी साधन से नहीं। इस संस्कार द्वारा व्यक्ति का पूर्ण रूप से समाजीकरण हो जाता है। संतानोत्पत्ति द्वारा वह अपने वंश को जीवित रखने, उसको शक्तिसम्पन्न बनाने के लिये और यज्ञों द्वारा कर्तव्य पूर्ति की प्रतिज्ञा करता है तथा धर्म संचय करके मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

महाकवि कालिदास का राजा तथा राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

देशराज

सहायक प्राध्यापक

संस्कृत विभाग, कालिन्दी महाविद्यालय

शोधसार संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि, व्यास आदि षियों एवं कवियों की परम्परा को अद्भुत एवं अक्षुण्ण बनाये रखने वाले कालजयी रचनाकारों में कालिदास कविकुल चूड़ामणि के रूप में विश्वविख्यात है। कवि को मनीषी, परिभू, स्वयम्भू, प्रजापति आदि उपाधियों से अभिमण्डित करने वाली भारतीय काव्य परम्परा में कालिदास को महज एक कवि या नाटककार के रूप में मूल्यांकित नहीं किया जा सकता है, बल्कि इस महान रचनाकार ने अपने सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा वैविध्यपूर्ण रचना संसार से भारत तथा उसमें रची बसी भारतीय संस्कृति को जो राष्ट्रीय पहचान देने का अद्भुत कार्य किया है उसके कारण आधुनिक समीक्षकारों ने कालिदास को 'राष्ट्रदूत' की उपाधि से विभूषित किया। निःसन्देह कालिदास महज एक कवि नहीं बल्कि अरस्तु तथा प्लेटो की भाँति राजनैतिक चिन्तक भी थे।

कालिदास ने हजारों वर्ष पूर्व राजतन्त्रा के युग में 'लोकतन्त्रा' तथा 'प्रजातन्त्रा' की ऐसी परिभाषाएँ दे दी थी जो आज की लोकतांत्रिक सरकारों के लिए भी अनुकरणीय है। आधुनिक राजनीति शास्त्रा के पाठ्यक्रम में अरस्तु, प्लेटो के राजनीतिक विचारों को जिस तरह पढ़ाया जाता है उसी प्रकार कालिदास के राजनैतिक विचारों के बारे में भी छात्रों को यथोचित जानकारी दी जानी चाहिए। तभी आधुनिक युग सन्दर्भों में कालिदास भारती के साथ समुचित न्याय हो सकेगा।

कालिदास ने राजा तथा राज्य सम्बन्धी समस्त पक्षों पर विशद दृष्टिपात किया है। कालिदास ने राजा शब्द की सुन्दर व्याख्या करते हुए लिखा है कि-

तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिस्जनात्।

राजा वह है जो प्रजा को प्रसन्न तथा सुखी रखे। कालिदास ने राजा को प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति का वह सम्बन्धी कहा है, जिससे वह नियुक्त है परन्तु पाप कर्म करने वाले का नहीं-

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।

ससपापाहते तासां दुष्यन्त इतिदृष्टताम्।ⁱ

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पञ्चम अघट्ट को कालिदास ने मानो राजा के दायित्वों एवं लोकाचारों के समीक्षार्थ ही लिखा है। कण्व शिष्यों के आगमन का संदेश दुष्यन्त तक पहुँचाने में भीरु कञ्चुकी एक भी क्षण निश्चिन्त न रहने वाले राजदायित्वों को यादकर अथवा विश्रामोत्थि लोकतन्त्राधिकारःⁱⁱⁱ ; अभिज्ञानशाकुन्तलम् छठा अंकद्ध कहता हुआ मानो स्वयं ही बेचैन हो उठा हो। राजा तक कण्व के शिष्यों का संदेश पहुँचाने का उत्साह उसमें शेष नहीं रहा और वह केवल इसलिए कि वह जनता है कि राजा अभी न्यायासन से उठकर गये हैं। किन्तु राजा के भाग्य में विश्राम कहाँ, उसे भी कञ्चुकी भली-भाँति जानता है।

भानुः सकृद्यत्तुतुरंग एव रात्रिन्दिवं गन्धहः प्रणति।

शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्मणः॥^{iv}

सूर्य ने जिन घोड़ों को जोतकर अपनी यात्रा प्रारम्भ की है वह अब तक बदले नहीं गये। पवन अविराम गति से अहर्निश बहता रहता है। पृथ्वी का भार सम्भालने से शेषनाग भी अब तक विश्राम नहीं ले सके ठीक यही दशा आय का षष्ठांश लेने वाले राजा की भी होती है। उसे

अविराम गति से प्रजा पालन में ही तत्पर रहना पड़ता है। कालिदास राजा की विश्राम अवस्था को राजकार्यों से विरत नहीं मानते। दुष्यन्त का विश्राम अपने दायित्वों को भूले हुए विलासी राजा का ऐश्वर्यपूर्ण जीवन नहीं था। अपितु कर्तव्यशील राजा के चिन्तनपूर्ण विश्राम के क्षण थे-

प्रजाः प्रजाः स्वाद्वतन्नायित्वा निषवतेश्रान्तमना विविक्तम्।

यूथानि संज्वार्य रविप्रतप्तः शीतं गुहास्थानमिव द्विवेन्द्रः॥ⁱ

स्वयं अपनी सन्तान के समान ही प्रजा का पालन कार्य करके महाराज शान्त मन होकर इसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जिस प्रकार कड़ी धूप को सहता हुआ गजराज अपने यूथ के सभी हाथियों के चरने की व्यवस्था कर शीतल छाया में विश्राम करता है। कालिदास के अनुसार राजा स्वयं कष्ट एवं दुःख सहकर दूसरों के सुखानुकूल जीवन की व्यवस्था करता है। राजा दुष्यन्त स्वतः कर्तव्य भार से दबा हुआ, अधिकार खेद का स्मरण करता हुआ राज्य की प्राप्ति तथा शासक बनने को एक उलझन ही मानता है। इसलिए वह कहता है-

सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्यगतं जन्तुः।

राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव॥ⁱ

दुष्यन्त के माध्यम से कालिदास ने इस तथ्य का प्रकाशन किया कहा है कि-राज्य धूप निवारण के हेतु हाथ में ली गयी उस छतरी के समान है जिससे आराम कम मिलता है और थकावट अधिक बढ़ती है। कालिदास ने राजा के कर्तव्य को पदे-पदे उद्धृत किया है। कालिदास के राजा प्रेमी हैं परन्तु विलासी नहीं। यदि विलासिता का गुण कहीं पर राजा में आया तो कालिदास ने राज्य के साथ राजा का भी विनाश स्पष्ट कर दिया है। संयोग-वियोग किसी भी अवस्था में राजा अपने दायित्वों का विस्मरण नहीं करते। विक्रमोर्वशीय नाटक में वैतालिक को भी इसका अनुभव होता है कि शासक का दायित्व कितना आयासपूर्ण है-

आलोकात्तातप्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां।

तुल्योद्योगस्तव दिनकृतज्वाधिकारो मतो नः॥

तिष्ठत्येषः क्षणमधिप्रतिज्योतिषां व्योममध्यो।

षष्ठे भागे त्वमपि दिवसस्यातनञ्जन्दवर्ती॥ⁱⁱ

जिस प्रकार सूर्य अन्धकार निवारण रूपी नित्य कर्तव्य के अनन्तर ही विश्राम लेता है उसी प्रकार राजकार्य समाप्त करने पर ही राजा विश्राम करता है। कालिदास ने राजा की समानता सूर्य से की है। कालिदास ने राजा के हृदय को वज्र से भी कठोर एवं पुष्प से भी अधिक कोमल बताया है। यह किसी भी शासक की अनिवार्य विशेषता होती है। अतः दिलीप को कुशल एवं सुयोग्य शासक कहते समय कालिदास उनके प्रमुख गुणों को बताते हैं-

भीमकान्तैतृपगुणैः स बभ्रवोपजीविनाम्।

अध्वश्याभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥

प्रजानामेव भूत्यर्थं सताभ्यो बलिमग्रहीता।

सहस्रगुणमुत्त्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ⁱⁱⁱ

राजा दिलीप न्याय करने में अत्यन्त ही निष्पक्ष एवं कठोर थे। उनसे लोग उसी प्रकार डरते थे जैसे समुद्र में मगरमच्छों के भय से प्रवेश करने में लोग डरते हैं। किन्तु वह अत्यन्त उदार और दयालु भी थे, अतएव लोग उनके पास उसी प्रकार पहुँचते थे जिस प्रकार अमूल्य एवं सुन्दर रत्नों को प्राप्त करने के उद्देश्य से लोगों की समुद्र में गति हो जाती है। राजा का दण्ड वासन्ती वायु के समान होना चाहिए जो न तो अत्यधिक गरम और न ही अत्यधिक ठण्डी होती है। राजा को सभी वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए। राजा की सच्ची सहधर्मिणी पृथ्वी होती है। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह पृथ्वी का पालन करे। कालिदास ने यह स्पष्ट किया कि जिस प्रकार पुरुष अपनी सहधर्मिणी भार्या का उपभोग करता है क्योंकि उस पर उसका ही अधिकार होता है

परन्तु उसकी रक्षा का दायित्व भी उसी पर होता है। अतः राजा की सच्ची सहधर्मिणी पृथ्वी ही है। कालिदास ने राजा को सभी आश्रमों के उपकारक गृहस्थाश्रम के समान बताया है जो सम्पूर्ण प्रजा के आश्रय के योग्य होता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जल सोख लेता है और बाद में उसका सहस्र गुना बरसा कर पृथ्वी को रसयुक्त बना देता है, उसी प्रकार राजा को कर का सहस्र गुना जनता की समृद्धि के लिए व्यय कर देना चाहिए। कालिदास का राज्ञोपदेश राजा के कर्तव्य में उत्पन्न विसंघर्षों का समाधान करता हुआ प्रतीत होता है।

-
- i रघुवंशम्, 4/12
 - ii अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/23
 - iii वही छठवां अंक
 - iv वही, 5/4
 - v वही, 5/5
 - vi अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/8
 - vii विक्रमोर्वशीयम्
 - viii रघुवंश, 1/16 व 18

भारतवर्ष, संस्कृत और विज्ञान

विश्वजीत विद्यालङ्कार

संस्कृत विभाग, कालिन्दी महाविद्यालय

[:v.jeetverma@gmail.com](mailto:v.jeetverma@gmail.com)

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्

वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः¹

विश्व के रंगमंच पर अनेक देश हैं। इतिहास की गहराइयों में जाकर हम झांकते हैं तो जो दृश्य हमारे नेत्रों के सामने उभरता है वह यह कि भारत सदियों से विश्व में मानव जाति के लिए प्रेरणा का केन्द्र रहा है। हमारे पूर्वजों ने 'कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को श्रेष्ठ बनाएंगे और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सम्पूर्ण वसुधा एक कुटुम्ब है तथा 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' तीनों लोक हमारे लिए स्वदेश हैं, कि उदात्त भावना ले सम्पूर्ण विश्व में संचार किया तथा विश्व की सुख, समृद्धि हेतु कला, कौशल तथा सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-वेदान्त-मीमांसा आदि आस्तिक और जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन का अवदान दिया। इसी कारण भारत प्राचीन काल से जगद्गुरु कहलाता रहा, जिसकी झलक पाश्चात्य चिंतक मार्क ट्वेन के निम्न वक्तव्य में दिखाई देती है - 'भारत उपासना पन्थों की भूमि, मानव जाति का पालना, भाषा की जन्मभूमि, इतिहास की माता, पुराणों की दादी एवं परंपरा की परदादी है। मनुष्य के इतिहास में जो भी मूल्यवान एवं सृजनशील सामग्री है, उसका भण्डार अकेले भारत में है। यह ऐसी भूमि है जिसके दर्शन के लिए सब लालायित रहते हैं और एक बार उसकी हल्की सी झलक मिल जाए तो दुनिया के अन्य सारे दृश्यों के बदले में भी वे उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे। इसी तथ्य को हमारे पुराणों में आचार्य ने व्यक्त करते हुए कहा है कि देवता लोग भी भारतवर्ष आने को इतने लालायित रहते हैं कि मनुष्य का जन्म लेने के में भी संकुचित नहीं होते अपितु अपना सौभाग्य समझते हैं -

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धान्यास्तु ते भारतभूमिभागे

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरस्त्वात्²

इतिहास में भारत मात्र धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान एवं श्रेष्ठ जीवन मूल्यों में ही नहीं अपितु व्यापार, व्यवसाय, कला, कौशल में भी अग्रणी था। एक प्रसिद्ध स्विस् लेखक बेजोरन लेण्डस्ट्राम, जिसने पुरातन मिस्रियों से लेकर अमरीका की खोज तक ३००० वर्ष की साहसी यात्राओं और महान खोजकर्ताओं की गाथा का अध्ययन किया लिखता है, 'मार्ग और साधन कई थे, परन्तु उद्देश्य सदा एक ही रहा प्रसिद्ध भारतभूमि जो देश सोना, चांदी, कीमती मणियों और रत्नों, मोहक खाद्यों, मसालों, कपड़ों से लबालब भरा पड़ा था।

¹ विष्णुपुराण २/३/१

² विष्णुपुराण २/३/२४

सैद्धान्तिक दृष्टि से धर्म, दर्शन के क्षेत्रों में देश की श्रेष्ठता आज भी विश्व को मान्य है पर जहाँ भौतिक समृद्धि का प्रश्न आता है या तत्त्वज्ञान के अनुकूल समाज जीवन में व्यवहार का प्रश्न आता है, तो उत्तर देना कठिन हो जाता है। अतः सर्वांगीण उन्नति की परिकल्पना एवं उसके उपायों पर विचार करने की आवश्यकता है।

संस्कृत शब्द अथवा वाक्य किसी भी रूप में सुनते ही प्रत्येक व्यक्ति के मुखारविन्द से अनायास ही एक प्रशस्तिपरक पङ्क्ति निःसृत हो जाती है। सभी किसी न किसी प्रकार से संस्कृत के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसकी महानता, भव्यता, विशदता और इसकी निर्मलता से स्वयं को विज्ञ अभिव्यक्त करते हैं। उपर्युक्त बातें एक संस्कृत के विद्यार्थी रूप में स्वतः अनुभूत हैं। संस्कृत साहित्य में लोक में निहित समस्त विद्या सूत्ररूप में वर्णित है, ऐसे कथन भी सर्वत्र लोकश्रुत हैं, जिससे इसके सम्बन्धी जन हर्षित होते रहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व महर्षि कणाद ने सर्वांगीण उन्नति की व्याख्या करते हुए कहा था ‘यतोऽभ्युदयनिश्चयसिद्धिः सः धर्मः’ अर्थात् जिस माध्यम से अभ्युदय अर्थात् भौतिक दृष्टि से तथा निश्चयस अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से सभी प्रकार की उन्नति प्राप्त होती है, उसे धर्म कहते हैं।

दुर्भाग्य से विगत अनेक वर्षों से हमारे देश में धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति हेतु तो प्रयत्न चलते रहे, परन्तु समग्र उन्नति की परिधि में भौतिक उन्नति के पक्ष की समाज जीवन में उपेक्षा हुई, जबकि भौतिक उन्नति सर्वांगीण विकास हेतु आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी मानी गई थी-

वयं स्यां पतयो रयीणाम्³ अर्थात् हमलोग धनैश्वर्यों के स्वामी बनें।

देश में सर्वसाधारण लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि विज्ञान के क्षेत्र में प्रकाश की प्रथम किरण पश्चिम के आकाश में ही फूटी थी और इस कारण समूचे विश्व में विकास चक्र गतिमान हुआ। पूर्व के आकाश में विज्ञान के क्षेत्र में अन्धकार व्याप्त था। इस धारणा के कारण मात्र पश्चिम का अनुकरण करने की वृत्ति देश में दिखाई देती है। परिणामस्वरूप हमारी कोई वैज्ञानिक परम्परा थी, विज्ञान दृष्टि थी इसका कोई ज्ञान न होने से आज के विश्व में हमारी कोई भूमिका हो सकती है, इस विश्वास का अभाव आज चारों ओर दिखाई देता है।

परन्तु 20 वीं सदी के प्रारम्भ में आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, ब्रजेन्द्रनाथ सील, जगदीश चन्द्र बसु, राव साहब वझे आदि विद्वानों ने अपने गहन अध्ययन के द्वारा सिद्ध किया कि भारत मात्र धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं अपितु विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में भी अग्रणी था। चिकित्सा के क्षेत्र में आचार्य सुश्रुत और च्यवन इतना ही नहीं तो हमारे पूर्वजों ने विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय किया था जिसमें से उत्पन्न विज्ञान दृष्टि के कारण विज्ञान का विकास जैवसृष्टि के अनुकूल व मंगलकारी रहने की दृष्टि प्राप्त हुई जिसकी आवश्यकता आज का विश्व भी अनुभव कर रहा है।

भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण के इस दौर में भौतिक सभ्यता के विकसित-अविकसित स्वरूप के आधार ही वर्तमान में किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राज्य की उन्नति आकलन का पैमाना है। संस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण इस विषय पर अपने मन्तव्यों से समाज को अवगत कराना भी एक नैतिक कर्तव्य है। दूसरी ओर २१वीं सदी के भारतीय समाज में एक ऐसा वर्ग भी समाज में उदित हो रहा है जो संस्कृत वाङ्मय में स्थित ज्ञान की विशाल राशि को वर्गभेद, ब्राह्मणवाद, दलित-उत्पीड़न, पोंगा-पन्थी आदि सामाजिक बुराईयों का प्रतीक बताकर इसे तिरोहित करने का कुचक्र रच रहा है। सामाजिक व्यवहार और शिक्षा से सम्बन्धित भेदभाव युक्त वर्णन मनुस्मृति

³ हिरण्यगर्भ सूक्त, ऋग्वेद

आदि शास्त्रों में अंशरूप में वर्णित हैं, यह भाग उन आधुनिकता के दैववत् चिन्तकों को दृष्टिगत होता है, परन्तु योग, आयुर्वेद, स्थापत्य, न्याय, मीमांसा, वेदान्त, व्यक्ति, समाज, राष्ट्र से सम्बन्धित अत्यन्त उपयोगी और दुर्लभ अवधारणाएँ उन्हें प्रत्यक्ष नहीं होती हैं।

शास्त्रों से ज्ञानरूपी पुष्प संचयन की यह पक्षपात-पूर्ण हेय शैली उनमें कैसे और क्यों विकसित हो गयी, इसका निदान शीघ्र होना संस्कृत वाङ्मय के रक्षणार्थ आवश्यक भी है और न्यायपूर्ण भी। संस्कृत की महिमा और इसकी गौरवगाथा का गान भावनात्मक स्तर पर सत्य और स्वीकार्य है परन्तु आज की इस जीविकोपार्जनात्मक शिक्षण-पद्धति से निःसृत पीढ़ी वस्तु की उपयोगिता उसके मूर्तरूप से निर्धारित करती है। वैसे भी आधुनिक जीवन-शैली ने एकान्त चिन्तन और आत्म-अवबोधन की क्षमता को कुन्द कर दिया है। संस्कृत के प्रति एक अपरिचित खिन्नता के कारण उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वे भवन्तु सुखिनः, सं गच्छध्वं सं वदध्वम्'⁴ जैसी अवधारणा उन्हें रुढ़ि और पाखण्ड-सी प्रतीत होती है। परन्तु 'ग्लोबलाईजेशन और इन्टिग्रेशन की थ्योरी' में जिस समरूपता के दर्शन करके सभी गौरवान्वित होते हैं, काश उन्होंने कभी हमारे दर्शन और उपनिषद् के कुछेक आखर पढ़ लिए होते तो उन्हें ज्ञात होता कि हमारी संस्कृत की विरासत कितनी श्रेष्ठता और भव्यता की साक्षात् प्रतिमूर्ति थी।

किन्हीं सुनियोजित षड्यन्त्रों ने हमारी पीढ़ी में संस्कृत भाषा के प्रति एक ऐसी हीनभावना लोगों के मनोःमस्तिक में भर दी गयी है कि 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः'⁵ और 'द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः' आदि में काल्पनिकता और छलावेपन की बू आती है परन्तु 'सेव ट्री अर्थ, नेचर एण्ड युनिवर्स', जैसी यु.एन.ओ. की पङ्क्तियाँ पर्यावरण संरक्षणार्थ प्रेरणा प्रदान करती हैं। तद्वत् समाचार पत्र, चैनल और फ़िल्म-जगत् में अभिनीत काल्पनिक, हिंसक, अश्लील और लज्जास्पद प्रस्तुतीकरण उनके लिए अभिनय मात्र होते हैं परन्तु संस्कृत वाङ्मय में निरूपित नाट्य और काव्य की विषयवस्तु इन्हें अर्थहीन और बकवाद प्रतीत होता है।

संस्कृत में उपस्थित विज्ञानपरक तथ्यों का विशेष वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा अपितु आपको सूचित करते हुए अत्यन्त ही हर्ष हो रहा है कि नवनिर्मित विश्वविद्यालयीय संस्कृत पाठ्यक्रम में उन विशिष्ट अंशों में सम्मिलित किया गया है जिसमें भारतीय अथवा वैज्ञानिक गौरव की बातें हम प्रायः सुनते रहते हैं। यथा- इण्डियन साइन्टिफ़िक हेरिटेज, इण्डियन मैथ एण्ड अस्ट्रोनोमी, संस्कृत एण्ड कल्चर आदि विषयों को जब आधुनिक पीढ़ी के विद्यार्थियों ने पढ़ा तो उनके लिए एकदम नया और कुतुहल उत्पन्न करने वाला था। चाहे वह अर्थशास्त्र की जल-संरक्षण-व्यवस्था हो, अथवा अग्निपुराण में वर्णित वृक्ष-विज्ञान, अथवा महाभारत में वर्णित जल-विज्ञान। सम्पूर्ण विषय का प्रकाशन आधुनिक छात्रों के लिए एक सुनहरे अतीत का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण जैसा था।

जब लीलावती, आर्यभट्टीयम्, सूर्यसिद्धान्त आदि प्रौढ़ ग्रन्थों के पाठ्यक्रम में निर्धारित अंशों को विद्यार्थियों ने पढ़ा, सब के सब अवाक् रह गये। वैदिक गणित का चयन कुछ छात्रों ने बाध्यतावश किया था क्योंकि उन्हें गणित विषय पूर्णतः अरुचिकर प्रतीत होता था। परन्तु केवल पञ्च सूत्रों को (एकाधिकेन पूर्वेण, निखिलं नवतश्चरमं

⁴ संज्ञान सूक्त ऋग्वेद १०/१९१/१

⁵ भूमि सूक्त, अथर्ववेद १२ अध्याय

दशतः, ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्, परावर्त्य योजयेत् और शून्यं साम्यमुच्ये) पढ़कर ही उनकी गणित के प्रति अवधारणा की परिवर्तित हो गयी।

अतः भारतवर्ष की धरोहर संस्कृत भाषा को पूर्वजों द्वारा वर्णित प्रशंसात्मक कथन अथवा वैदेशिकों की गयी उसकी समीक्षा मात्र से न तो भारतीय न ही संस्कृत की गौरवमयी परम्परा पुनः पुनर्जीवित होगी प्रत्युत इसकी वास्तविकता को व्यवहाररूप में परिणत करना ही इसकी सार्थकता को द्योतित करेगी। क्योंकि 'प्रयोजनमननुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के तो मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है और हम सभी तो मननशील विवेकपूर्ण प्राणी हैं।

इसके अतिरिक्त आज की सबसे बड़ी आवश्यकता विज्ञान व अध्यात्म के समन्वय की दिशा में फ्रीटजॉफ काप्रा, ग्रेड्ज़ुकोवव, प्योफ्रीच्चे तथा रामकृष्ण मिशन के परमाध्यक्ष पूज्य स्वामी रंनाथानंद एवं स्वामी जितात्मानन्द आदि के अनुभवों के व व्याख्यानों से भारतीय विज्ञान दृष्टि एवं उसका वैश्वदृष्टि जगत् के सामने उद्घाटित हो रहा है।

इस दिशा में चिंतन व प्रयोग कर रहे हैं इस साहित्य को पढ़ने पर आज की पीढ़ी को एक दिशा मिल सकती है, उसके मन में स्वाभिमान का जागरण हो सकता है और अपनी विज्ञान दृष्टि से विश्व को भी उन अनेक समस्याओं से मुक्ति दिलाई जा सकती है जिसे आज मात्र भौतिक विकास के कारण वह अनुभव कर रहा है। इस दृष्टि से देश में जहां एक ओर वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास को गति देने की आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर यह भी ध्यान रखना होगा कि यह विकास अपनी संस्कृति, प्रकृति और आवश्यकता के विपरीत भी न हो।